उपनिषदों का अध्ययन

●

विनोबा

●

१९५६
सस्ता साहित्य प्रकाशन

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय,
मन्त्री, सस्ता साहित्य मण्डल
नई दिल्ली ।

पहला सस्करण १९५६
मूल्य
एक रुपया

मुद्रक
नेशनल प्रिंटिंग वर्क्स,
दिल्ली ।

प्रस्तावना

सन् १९२३ मे 'महाराष्ट्र धर्म' मासिक में 'उपनिषदांचा अभ्यास' (उपनिषदो का अध्ययन) शीर्षक चार लेख मैंने लिखे थे। उन्ही लेखो का इस पुस्तक में सकलन किया गया है । यह 'उपनिषदो का अध्ययन' प्रस्तावना-खण्ड होंने पर भी अपने-आप मे पूर्ण है । इसमे से उपनिषदों की ओर देखने की दृष्टि मिल सकती है ।

प्रस्तुत सकलन तैयार करने से पहले मै चारो लेखो को देख गया हूँ । विचार की दृष्टि से एक जगह सशोधन की आवश्यकता जान पडी थी, और उतना सशोधन कर दिया है। वाकी सारा विवेचन पूर्ववत् है । भाषा भी ज्यो-की-त्यो रखी गई है। दो जगह सिर्फ दो शव्द वदले है। भाषा कुछ कठिन मालूम होगी। आज यदि मै लिखने वैठूं तो शायद दूसरी ही शैली में लिखता। लेकिन विषय को ध्यान मे रखे तो जो भाषा वरती गई है वह अनुचित नही कही जा सकती । उसका प्रवाह और स्फूर्ति हृदय को स्पर्श करनेवाली है ।

उपनिपदो की महिमा अनेको ने गाई है। कवि ने कहा है कि हिमालय जैसा पर्वत नही और उपनिपदो जैसी पुस्तक नही है । परतु मेरी दृष्टि मे उपनिपद् पुस्तक है ही नही, वह तो एक प्रातिभ-दर्शन है। उस दर्शन को यद्यपि शव्दो मे अकित करने का प्रयत्न किया गया है, फिर भी शव्दो के कदम लडखडा गये हैं। परन्तु सिर्फ निष्ठा के चिह्न उभरे हैं। उस निष्ठा को हृदय[1] मे भरकर, शव्दो की सहायता से शव्दो को दूर हटा-कर अनुभव किया जाय तभी उपनिपदो का वोध हो सकता है।

मेरे जीवन मे गीता ने मा का स्थान लिया है । वह स्थान तो उसीका है। लेकिन मै जानता हू कि उपनिपद् मेरी मा की मा है। उसी श्रद्धा से उपनिपदो का मेरा मनन-निदिध्यासन पिछले वत्तीस वर्षों से चल रहा है। उसकी एक वूद इस चतुराध्यायी मे है। सज्जनो के लिए वह आनद देने-वाली हो।

परधाम, पवनार
२-६-४६

प्रकाशकीय

विनोवाजी ने आध्यात्मिक साहित्य का वडी गंहराई मे अध्ययन किया है और अपने स्वतत्र चितन से कई ग्रथो का सार वडे ही सुन्दर ढग से प्रस्तुत किया है । उनके 'गीता-प्रवचन' को तो वहुत ही पसद किया गया है। भारत की कई भापाओ में उसके अनुवाद हुए है।

प्रस्तुत पुस्तक में उपनिपदो पर विनोवाजी के चार विवेचनात्मक लेखो का सग्रह है। उपनिपद ज्ञान का अगाध सागर है । उसमें गहरे पैठकर भारतीय तत्त्व-दर्शन की अक्षय निधि निकालकर विनोवाजी ने पाठको के लिए सुलभ की है । यह पुस्तक वस्तुत· उनके गूढ चितन का फल है और उनका मौलिक चितन इसमें स्पष्ट दिखाई देता है ।

आशा है पाठक इस पुस्तक के पठन और मनन से लाभ उठावेंगे।

—मत्री

विषय-सूची

उपनिषदों का अध्ययन

: १ :

ॐ

१

भगवद्गीता मे कहा गया है कि 'ॐ तत् सत्' ब्रह्म का तिहेरा निर्देश है और इन तीन रूपो से परमात्मा सृष्टि मे व्याप्त है। इनमे से 'ॐ' एक गूढ सकेत है। उससे किसी भी लौकिक अर्थ का वोध नही हो सकता। इसलिए अलौकिक, वैदिक या पारमार्थिक कर्म मे ईश्वर का स्वरूप सुझाने के लिए यह एक अच्छा चिह्न या सज्ञा है। इसी कारण से ब्रह्मवेत्ता ऋपि स्वाध्याय, यज्ञ, दान, तप और सभी वैदिक या पारमार्थिक कर्म ॐकार के उच्च घोप से शुरू करते थे। 'तत्' शब्द का अर्थ है 'वह'—यानी 'यह' या 'मेरा' नही, 'इद न मम'। इसलिए इस शब्द से परार्थ अथवा निष्काम कर्म का बोध होता है और ऐसे कर्म मे भगवान् का अधिष्ठान सूचित होता है। उसी तरह से, 'सत्' शब्द का प्रयोग मुख्य रूप से नैतिक (प्रशस्त) कर्म के लिए होता है। इसलिए यह शब्द ऐसे सत्कर्मो या सद्भावनाओ का पर्यायवाची है, जो (कर्म) स्वार्थपूर्ण होने पर भी नीति के विरुद्ध नही होते, या जो इच्छाएँ धर्म मे बाधक नही होती। यह शब्द नीतियुक्त कर्म मे ईश्वर की सहायता सुझाता है। इस प्रकार से इस तिहेरे निर्देश मे से ये तीन अर्थ सूचित होते है कि पारमार्थिक कर्म ईश्वरार्पण वृत्ति से हो, परार्थ मे निष्काम भावना रखी जाय और स्वार्थ भी नीतियुक्त या विवेकपूर्ण होना चाहिए। स्वार्थ, परार्थ और परमार्थ अथवा

इहलोक, परलोक और मोक्ष इन तीनो सीढियो का समावेश ॐ तत्सत् ब्रह्म-निर्देश में है। साथ ही वैदिक धर्म का समूचा सार उसमे सकलित रूप मे आ सकता है। किंतु नीति-युक्त स्वार्थ ही परार्थ या परमार्थ भी हो सकता है। इससे उलटे निष्काम परार्थ मे परमार्थ के साथ समझदारी से किये स्वार्थ के लिए भी जगह रहती है। उसी प्रकार से यह भी सिद्ध किया जा सकता है कि ईश्वरार्पण-पूर्वक किया गया परमार्थ परार्थ या विवेकपूर्ण स्वार्थ मे बाधक नही होता। इसलिए 'ॐ तत्सत्' इस तिहेरे निर्देश मे से "ईश्वरार्पणपूर्वक (ॐ) निष्काम (तत्) सत्कर्म (सत्) कीजिए" ऐसा सर्वांग-सुन्दर एकार्थवाची, समन्वयात्मक अर्थ भगवान् ने व्यक्त किया ह। (गीता, अ १७, २३-२७)

लेकिन जिस तर्क से तिहेरे निर्देश मे से इकहरा अर्थ निष्पन्न हुआ, उसीके सहारे प्रत्यक्ष उस तिहेरे निर्देश को ही इकहरा रूप दिया जा सकता है, इसलिए 'ॐ' के मूल इकहरे गूढ, वैदिक निर्देश को निश्चित मानकर समूचे 'ॐ तत्सत्' निर्देश का समावेश उसीमे कर लिया जाता है। ऐतिहासिक परपरा की दृष्टि से ॐ निर्देश चूकि प्राचीनतर है, इसलिए उसकी व्याख्या करने के उद्देश्य से ही ॐ तत्सत् निर्देश उत्पन्न हुआ था। अपना काम पूरा करके पुन मूल निर्देश मे ही वह विलीन हो गया। विलीन होते समय उसके लिए जिस तर्क की आवश्यकता हुई वह ऊपर दिया गया है। इस तर्क के अनुसार पहले वैदिक कर्मो के आरभ मे काम मे आने वाले मत्र का लौकिक-वैदिक सभी कर्मो के आरभ मे उच्चारण करने का रिवाज पड गया। पद या पदार्थ इन दोनो सृष्टियो के परे रहनेवाले ईश्वर को पद सृष्टि में लाने का पहला काम ॐकार ने किया। वाद मे उसे पदार्थ-सृष्टि मे लाने का काम गणपति की मूर्ति ने किया होगा, ऐसा कुछ लोगो का तर्क है। किसी-किसी का कहना है कि ॐकार मे 'अकार' सूचक (उ) अश के स्थान पर मस्तिष्क

की कल्पना व आगे (ऽ) वक्राकृति की जगह सूँड की कल्पना करके या ऐसी ही कोई और दूसरी कल्पना करके गणपति का अवतार हुआ होगा। इसके बाद सब कामो के आरभ मे इस नवीन अवतार का स्मरण होना स्वाभाविक है। ज्ञानेश्वर ने ऐसी ही कल्पना ज्ञानेश्वरी मे दी है। ॐकार के अ, उ, म् ये तीन विभाग करके 'अ'-कार' की जगह पद्मासन, 'उ'-कार की जगह बडा पेट और 'म्'-कार की जगह वक्रतुड, ऐसी उनकी रसमय कल्पना है।

अकार चरण युगल।
उकार उदर विशाल।
मकार महामंडल।
मस्तकाकारें॥ (ज्ञा. १,१९)

इस तरह से किसी भी काम का 'ओनामा' या 'श्रीगणेश' हुआ। साराश, किसी भी कार्य के आरभ मे, विशेषत पारमार्थिक और उसमे भी वेदाभ्यास आदि स्वाध्याय की शुरूआत मे ॐकार का स्मरण और चिंतन करने की वैदिको की परपरा है। उसीके अनुसार हम भी उपनिषदो का अध्ययन शुरू करने से पहले इसी गूढ मत्र का विचार करनेवाले है।

'परोक्षप्रिया इव हि देवा'—देवताओ को साकेतिक भाषा प्रिय होती है। देवताओ का यह स्वभाव कहा गया है। देवता की श्रेणी मे पहुँचे ऋषियो के लिए भी यही बात लागू है। उनकी वाणी प्राय गूढ होती है। इसके कई कारण हो सकते हैं। अपना पवित्र अनुभव दुनिया के सामने रखते समय उसकी पवित्रता बनी रहे और अनधिकारी पुरुष को बुद्धिभेद भी न हो यह कारण रहा होगा। या जैसा कि तुलसीदासजी ने कहा है, जगत की दृष्टि से 'नीरस' प्रतीत होने वाले अपने अनुभव को यदि 'रोचक' भाषा मे कहे तो शायद ससार को वह अधिक जँचता है, यह विचार रहा हो। या हरेक के अपने अनुभव के लिए गुजाइश

कुछ भी कहे, वह सब इस विट्ठल (भगवान्) को सोहता है।
इस सत-वचन की तरह उपनिषदो के ऋषियो ने इस ॐ
की एक से बढकर एक सराहना करने मे अपनी वाणी को सार्थक
माना है।

२

केनोपनिषद् मे ॐकार का गौरव सूचित करनवाली
एक आख्यायिका कही गई है—

एक बार देवासुर-सग्राम मे ब्रह्म ने देवताओ को जय प्राप्त
करा दी। तब देवता गर्व से फूलकर कहने लगे—"यह हमारी
ही विजय है, यह हमारी ही महिमा है।" उनकी यह गर्वोक्ति
ब्रह्म के कानो तक पहुँची, तो वह एक अद्भुत यक्ष का रूप धारण
करके देवताओ के सामने प्रकट हुए। 'यह क्या बला है' कहकर वे
विचार करने लगे, लेकिन कुछ भी पता नही चलता था।
आखिर वे अग्नि से कहने लगे—

"हे सर्वज्ञ (जात-वेदस्) अग्निदेव, यह कौन-सा भूत (यक्ष)
है?" अग्नि उस यक्ष के सामने उपस्थित हुआ।

"तू कौन?"

"मै विश्व-विख्यात अग्नि हू।"

"तुझमे कौन-सी शक्ति (वीर्य) है?"

"मै पृथ्वी पर की हर चीज को जला सकता हूँ।"

"तब जला यह तिनका," कहकर ब्रह्म ने एक घास का
तिनका उसके सामने डाल दिया। लेकिन अपनी सारी शक्ति
लगाने पर भी अग्नि उस तिनके को नही जला सका और अपना-
सा मुँह लेकर देवताओ के पास लौट आया। फिर वायु की बारी
आई। उसका भी वही हाल—

"तू कौन?"

"मै माई का लाल (मातरि-श्वा) वायु।"

"तुझमे कौन-सी शक्ति है?"

मंदिर का गर्भ-गृह है। ॐकार के लिए ही दूसरा शब्द 'प्रणव' है। 'प्रणव' शब्द 'नु'—स्तुति करना—धातु को 'प्र' उपसर्ग जोड़-कर बनाया गया है, इसलिए उसका अक्षरश अर्थ है 'उत्तम स्तुति।' इस 'उत्तम स्तोत्र' के, प्रणव के, या ॐकार के आतरिक चितन और बाह्य जप यह दोनो ब्रह्म-विद्या के आतर-बाह्य दो अग है, इसलिए 'उमा के वचन सुनने के बाद ही इन्द्र की बुद्धि मे प्रकाश का उदय हुआ,' इस वाक्य का मर्म अब हम समझ सकते है। 'आत्मानमरणि कृत्वा प्रणव चोत्तरारणिम्'—आत्मा रूपी नीचे की लकडी और प्रणव या ॐकार रूपी ऊपर की लकडी, इन दो अरणियो के घर्षण से ज्ञानाग्नि उत्पन्न की जाय—इस वाक्य मे या 'प्रणवो धनु शरोह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते'—ॐकार धनुष है, आत्मा बाण है और ब्रह्म को लक्ष्य समझना चाहिए—इस वाक्य मे भी ॐकाररूपिणी उमा की ही मध्यस्थता सूचित की गई है।

ॐकार की महिमा का वर्णन करनेवाली और एक आख्या-यिका छादोग्योपनिषद् मे दी गई है।

"पीछा करनेवाली मृत्यु से डरकर देवताओ ने त्रयी-विद्या यानी वेदो के आच्छादन की शरण ली। इस प्रकार वेद चूकि ससारत्रस्त मनुष्य के लिए छिपकर बैठने की जगह है अतएव उन्हे 'छदस्' (छिपकर बैठने की गुप्त जगह) कहते है। लेकिन जैसे एक बगुला पानी मे मछली को ढूंढ निकालता है, उसी प्रकार इस गुप्त जगह मे भी मृत्यु ने जब देवताओ को पकड़ लिया, तब इस किले को भी छोड़कर उन्हे ॐकार के दुर्जेय किले (उर्ध्वा) का आश्रय लेना पडा। इस किले पर मृत्यु की कोई ताकत नही चलती थी, इसलिए वहा जाने पर देवता मृत्यु के त्रास से मुक्त होकर निर्भय बने। जो इस ॐकार की उपासना करेगा, वह भी देवताओ के समान अमृत और अभय बनेगा।"

इस आख्यायिका मे यह कहकर कि जो निर्भयता वेदो मे भी नही है वह ॐकार मे है, एक प्रकार से ॐकार की तुलना मे वेदो

का भी अधिक्षेप किया-सा जान पडता है। मुडकोपनिषद् मे भी विद्या के 'परा' यानी श्रेष्ठ और 'अपरा' यानी हीन ऐसे दो प्रकार करके ऋग्वेदादि चार वेद और व्याकरणादि छ वेदागो का समावेश हलकी—अपरा—विद्या मे किया है और जिसके 'योग' से वह एक अक्षर हासिल मान लिया जाता है उसे पराविद्या कहा गया है। चूकि 'अ-क्षर' शब्द का अर्थ व्युत्पत्ति की दृष्टि से अविनाशी होता है, इसलिए वह शब्द परब्रह्म का प्रतीक (चिह्न) हो सकता है। गीता के "ॐमित्येकाक्षर ब्रह्म" वचन का यही अर्थ है और यह अक्षर न ह्रस्व है न दीर्घ ही, ऐसा आलकारिक वर्णन मिलता है। जिसे यह अक्षर नही मालूम है, उसने वेदादि रट लिये हो या वह प्रगाढ वैयाकरणी और तार्किक हो तो भी उपनिषदो का कहना है कि उसे निरक्षर या अक्षर-शत्रु ही समझना चाहिए। और गीता मे भी—'त्रयीविद्या के यानी वेदो के पीछे पडे हुए लोग अधिक-से-अधिक स्वर्ग मे जायगे, लेकिन मोक्ष तो कभी पा नही सकते', 'आत्म-ज्ञान की गगा मे तैरनेवाले लोगो को वेदो की कीमत तुलना मे एक पानी भरे गढे के समान है' या 'वेदो मे तीन गुणो का ही घोल है, अत तू उसमे मत उलझ,' इत्यादि—वेदो की हीनता बताने वाले वचन आये हुए है। विश्वास और आदर की दृष्टि मे सन्त-वचनो का विचार करने वालो को इनका सीधा अर्थ समझ मे आ सकता हो, फिर भी जिन विद्वानो का आर्य-सस्कृति से परिचय नही है और जो मुख्यत ऐतिहासिक या आलोचनात्मक दृष्टि से ही वेदादिको का 'परीक्षण' करते है उन लोगो के लिए इनका अर्थ समझना कठिन हो गया है। उनके मत के अनुसार, चूंकि जिस काल मे वेदो के प्रति पूज्य बुद्धि घटने लगी थी, उस समय मे उपनिषदो की रचना हुई, इसलिए उपनिषदो के या उनके बाद के गीता आदि वेदान्त ग्रन्थो के तत्त्वज्ञान मे वेदो के विरुद्ध एक विद्रोह है, और इन्ही विद्रोहियो मे से कुछ अतिवादी या उग्र लोगो ने आगे चलकर वेद-बाह्य माने जानेवाले बौद्ध और जैन

धर्मो की स्थापना की। जबतक 'परीक्षण' की उद्धत वृत्ति रहेगी, तबतक धर्म-ग्रन्थो मे से ऐसे मतो का निकलना अपरिहार्य ह। 'करी मस्तक ठेंगणा। लागे सन्ताच्या चरणा' (सिर झुकाकर सन्तो के चरणो मे गिरना चाहिए), इस नम्र वृत्ति से ही ऋषि-वचनो का अध्ययन होना चाहिए। यदि आप ऋषियो से ज्यादा सयाने हो तो फिर आपके लिए ऋषियो के ग्रथो का अध्ययन करने की आवश्यकता ही नही है। आपको ऋषियो के ग्रथो मे से कुछ भी जीवनोपयोगी पाथेय मिल सकेगा, ऐसा विश्वास हो तभी उनमे से कुछ हाथ लगेगा, अन्यथा शुष्क ऐतिहासिक कल्पनाओ क सिवा कुछ भी निष्पन्न न होगा। उपनिषदो का तत्त्वज्ञान वैदिक कल्पनाओं के खिलाफ विद्रोह है, इस विचार की जड मे वेदो के दोष दिखानेवाले दो-चार वाक्य ही नही है, बल्कि यह धारणा है कि वेदो मे कर्म-काड के सिवा कुछ है ही नही। ऐसी हालत मे जबतक हम इस धारणा का विचार नही करते, तबतक ऊपर बताये मत का निरसन नही होगा। यह धारणा मुख्यत पाश्चात्य खोजियो की है और उसीको हमारे यहां के कई विद्वानो ने उठा लिया है। निरे ऐतिहासिक प्रमाण के अलावा दो अलग कारण इस धारणा की जड मे दिखाई देते है (१) सायणादि वेद-भाष्यकारो के एकागी भाष्य, और (२) मनुष्य के पूर्वज जगली थे यह विकासवादी कल्पना। इन दोनो कल्पनाओ पर विचार करना जरूरी है। फिर भी वह एक स्वतत्र लेख का विषय बन सकता ह, इसलिए अभी इसे एक ओर रख दे और सहानुभूति या रसिकता की दृष्टि से देखे तो ऐसा जान पड़ेगा कि वेदो की ऐसी 'निन्दा' खुद वेदो मे ही की गई है। उदाहरणार्थ, ऋग्वेद के पहले मडल मे दीर्घतमस् ऋषि का निम्न मत्र है—

> ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्
> यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः।
> यस् तन् न वेद किमृचा करिष्यति
> य इत् तद् विदुस इमे समासते ॥

यह मत्र श्वेताश्वतरोपनिषद् मे सम्मिलित किया गया है। इसका भाव ह—"जिस महान् अक्षर पर (यानी ॐकार पर) तमाम ऋचाओ की इमारत खडी की गई है, वह अक्षर जिसे नही मालूम वह ऋग्वेद को लेकर क्या करेगा ?" अव ऋग्वेद ही के समय मे ऋग्वेद के ऋपि के मन मे ऋग्वेद के प्रति पूज्य वुद्धि कम हो गई थी या उसे ऋग्वेद के विरुद्ध विद्रोह खडा करना था, यह तो नही कहा जा सकता।

इस वेद-वाक्य से तो इतना ही अर्थ निकलता है कि ॐकार का सभी वेदो से अधिक महत्त्व है और स्पष्ट है कि यही वात उपनिषद् या गीता भी कहती है।

ऋपियो की कल्पना है कि ॐ अक्षर सभी 'वेदो का सार' और 'शास्त्रो की मूर्ति' है और यही वात उन्होने अनेक स्थानो पर स्पष्टत कही है। पृथिवी सभी भूतो का रस है, पृथिवी का रस आप, आपका रस ओपधि, ओषधि का रस पुरुष, और आगे वाक्, ऋक्, साम और अन्त मे ॐ किवा उद्-गीथ ऐसी छान्दोग्य के प्रारभ मे उत्तरोत्तर उत्कृष्ट रसो की परपरा देकर, सात चलनियो से छना हुआ यह आठवाँ सर्वोत्तम रस है, ऐसा इस रस-शेखर का वर्णन किया है। मनुष्य और पशु के वीच का वाहरी फर्क वाणी के रूप मे स्पष्ट दिखाई देता है। इसलिए वाक् पुरुप का रस है। वाचा का रस 'ऋक्' कहा गया है। ऋक्, यजुस्, साम क्रमग ज्ञान, कर्म और भक्ति वतलानेवाले शव्द है। ऋक् शव्द, ऋ (ऋच्), धातु से उत्पन्न हुआ है। वह गति, ज्ञान, प्रकाश, इत्यादि को सूचित करता है। 'अर्क' यानी सूर्य। यह शव्द भी इसी परिवार का है। 'यजुस्' शव्द 'यज्' धातु से निकला है। उसका अर्थ 'निष्काम कर्म' (यज्ञ) होता है। 'साम' शव्द हृदयस्थ 'समता' का द्योतक ह, ऐसा प्रतीत होता है, क्योकि 'सर्वेण सम तेन साम'—सवसे समान है अत साम—ऐसी इसकी व्युत्पत्ति वताई गई ह। 'भूतमात्री हरीविण। न पाहे चि दुजेपण' (भूतमात्र मे हरि के विना और दूसरा कुछ नही देखता)—ऐसी समता ही चूकि भक्ति का स्व-

रूप है, इसलिए "वेदाना सामवेदोऽस्मि'—सब वेदों मे सामवेद मेरी विभूति है—ऐसा भगवान् ने कहा है, और उसी अर्थ मे साम-वेद को ऋग्वेद का 'रस' या सार कहा गया है। परतु चूकि इस साम मे से या समत्व बुद्धि मे से ॐकार का जन्म है, इसलिए यह आसानी से कहा जा सकता है कि ॐकार सामवेद का निष्कर्ष अथवा रस है। सारांश, 'ऋक् साम यजुरेव च' तीनो जीवन के आद्यतत्त्व होने के कारण यद्यपि ईश्वर की विभूति है, या इन तीनो मे साम का यानी समत्व बुद्धि का अधिक महत्त्व होने की वजह से सामवेद ही यद्यपि श्रेष्ठ विभूति है, फिर भी अत मे यही निश्चित होता है कि इस समत्व बुद्धि का भी मर्म, गीता के वचन 'प्रणव सर्व-वेदेषु', के अनुसार, ॐकार है। वही वाङमय सृष्टि मे ईश्वर का अतिम रूप है। 'माधुर्यें चद्रिका। सरिसी राया रका' (चादनी का माधुर्य राजा और रक को समान रूप से मिलता है)—इस दृप्टात के अनुसार सोम राजा को साम की उपमा दी जाय तो उसपर भी ॐकार की मुहर लगी हुई है। और आज भी उस मुहर के दर्शन सब लोगो को कलक के रूप से होते है। इस ॐकार मुद्रा से अकित होने के कारण ही शायद शकर ने उसे अपने मस्तक पर धारण किया होगा।

३

अव्यक्त, ईश्वर और व्यक्त जगत् के बीचवाली शृखला की कडी कुछ अव्यक्त और कुछ व्यक्त-सी होनी चाहिए। ॐकार ऐसी ही कड़ी है। वह अपने अ–उ–म् अवयवात्मक व्यक्त रूप से जगत् मे व्याप्त है और ॐ इस सघातात्मक अव्यक्त रूप से ब्रह्म से जा मिला है। इसलिए उसका वर्णन करते समय ध्यानी मुनि "तुज सगुण म्हणो की निर्गुण रे"—तुझे सगुण कहू या निर्गुण ?—की उल-झन मे फंस जाते है। 'सर्व खलु इद ब्रह्म'—यह सब ब्रह्म है—अथवा अ+उ+म्=ॐ ये दोनो समीकरण गाणितिक नही, बल्कि रासायनिक है। २+४=६ यह गणित का समीकरण है।

चूना+हल्दी=लाल रग यह रासायनिक समीकरण है । पहले समीकरण के पूर्व पक्ष और उत्तर पक्ष के बीच मे साम्य-चिह्न (=) आत्यतिक साम्य दिखाता है। दूसरे समीकरण मे वैसी स्थिति नही है। उत्तर पक्ष का लाल रग पूर्व पक्ष के दोनो पदार्थों के मिलने से बना हुआ हो, फिर भी उसका स्वतन्त्र गुण झलकता है, जो दोनो मूल पदार्थों मे से एक मे भी नही है। वैसी ही स्थिति अ+उ+म्=ॐ समीकरण की है। अ+उ+म् इन तीनो मात्राओ का ॐकार मे समावेश होता है, फिर भी चूकि ॐकार मे उनसे कुछ-न-कुछ ज्यादा अर्थ गृहीत है, इसलिए ॐकार की साढे तीन मात्राए मानी जाती है। यह आधी मात्रा, पेशवाओ के जमाने के साढे तीन सयानो मे आधे सयाने के भाति ही, अन्य तीनो मात्राओ से अधिक योग्यता की होने के कारण, जान पडता है, उसपर उन तीनो मात्राओ की कुछ भी मात्रा (वश) नही चलती।

इस प्रकार से इस समीकरण के पूर्व पक्ष मे तीन मात्रा और उत्तर पक्ष मे साढे तीन मात्राओ का जो थोडा-सा वैषम्य है उसका अधिक स्पष्टीकरण जरूरी है। यह समीकरण इतना वैषम्य कैसे सहता है, इसका विचार करने से पहले उसके सभी पदो का अलग-अलग विचार करना होगा। ॐ तीनो वेदो का सार है। इसलिए अ, उ, म् ये तीनो पद ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद के प्रतीक या चिह्न है। जैसा पहले कहा गया है, ऋक्, यजुस् और साम जीवन के तीन मुख्य तत्त्व है और आज की भाषा मे उनका अर्थ क्रमश ज्ञान, (निष्काम) कर्म और समत्व-बुद्धि (या भक्ति) होता है। जागृति में सर्व ज्ञान होता है, इसलिए जागृतावस्था ज्ञान की प्रतीक सूचक मानी जा सकती है। स्वप्नस्थिति मे जो कर्म होते है उनका सुख-दुख मनुष्य को वस्तुत कुछ भी नही होता, यह अनुभव-सिद्ध है। इस दृष्टि से स्वप्न-सृष्टि को निष्काम कर्म की उपमा मानने मे हर्ज नही है। वैसे ही जहा नीद आई कि सभी प्रकार के भेद अस्त हो जाते है और निखिल सृष्टि अद्वैत का अनुभव करने

लगती है, इसलिए सुषुप्तावस्था का दृष्टात समत्व-बुद्धि को दिया जा सकता है। इस दृष्टि से अ, उ और म् ये तीन मात्राएँ अब जीवन की तीन अवस्थाओ की निदर्शिकाए बनेगी। जागृतावस्था मे मनुष्य की सब क्रियाए व्यावहारिक भूमिका पर यानी पृथिवी पर होती है। स्वप्न-स्थिति मे मनुष्य हवा मे किले बाधता है, इसलिए मानो अन्तरिक्ष मे भटकता है। गहरी नीद मे अपने इहलोक के सारे दुख-सुख भूलकर जीवात्मा शिवस्वरूप दिव्य आनन्द का अनुभव करता है, इसलिए स्वर्ग मे रहता है। इसलिए अ, उ, म् इन तीन मात्राओ से हमे नित्य के अनुभव के पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक—या भूर्, भुव, सुवर्—इन तीन लोको का बोध होगा। जागृतावस्था मे मनरूपी पवन सहित वाक् आदि सभी इन्द्रिया काम करती रहती है। स्वप्न मे इन्द्रिया शान्त रहती है और सिर्फ मन हवा के साथ फिरता रहता है, और नीद मे प्राण के सिवा सभी निस्पद रहते है, इसलिए 'अ' यानी वाक् 'उ' यानी मन और 'म्' यानी प्राण ऐसा भी अर्थ ऋषियो ने किया है।

लेकिन इसपर कोई ऐसी आपत्ति करेगा कि जो अर्थ शब्द से बिल्कुल नही निकलता, उसे सिर्फ कल्पना से उसपर लादना ही हो तो ऋषि ही क्या, कोई भी ऐसे सैकडो अर्थो की कल्पना कर सकता है। लेकिन यह आक्षेप उचित नही है, क्योकि यदि वैसे देखा जाय तो किस शब्द मे कौन-सा अर्थ होता है? का-ग-ज अक्षर-समूह मे ऐसा कौन-सा सामर्थ्य भरा हुआ है कि उससे हमे कागज का बोध हो? यह भी एक लौकिक सकेत ही है न? यानी यह एक कल्पना ही हुई। अलावा इसके अर्थ लादने का यहा सवाल ही नही आता। जैसे कागज के पीछे सार्वजनिक निश्चय का आधार है, वैसे ही ऋषियो द्वारा की गई कल्पना के पीछे भी ध्यान की, दीर्घ चितन की, सतत परिश्रम की और कृति का सामर्थ्य है। तीन मात्राओ के कोई भी तीन मनमाने अर्थ लगाये जाय, ऐसा यह शाब्दिक खेल नही है। यह तो जीवन का प्रश्न है। प्रश्नोपनिषद् मे ऋषियो की अर्थ-पद्धति स्पष्ट की गई है। 'अ' कार का अर्थ

जिसने 'पृथिवी' किया, उसने 'अ'-कार पर वह अर्थ कैसे लादा, इसके बारे मे उस उपनिषद् में "स तत्र तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया सपन्नो महिमानमनुभवति", यो स्पष्टीकरण किया गया है। इसका अर्थ होता है कि जो ऋषि अकार की जगह पृथिवी की भावना करता है उसपर यह जिम्मेदारी आती है कि वह पृथिवी पर दीन स्थिति में नही रहे। पृथिवी पर की 'महिमा' उसके वश मे होनी चाहिए। उसकी आकाक्षा, गृत्समद ऋषि के वैदिक वचनानुसार, 'प्राये प्राये जिगीवास स्याम'—प्रत्येक व्यवहार मे हम विजयी हो, यही होनी चाहिए। इस महत्त्वाकाक्षा को पूर्ण करने के लिए उसे तपश्चर्या का, ब्रह्मचर्य का और श्रद्धा का अनुष्ठान करना चाहिए। इस रीति से अनुष्ठान करके ऋषि पृथिवी पर की महिमा का अनुभव किया करता था। इसीसे वह 'अ' का अर्थ पृथिवी कर सका और उपनिषत्कारो ने वह अर्थ नोट कर लिया। आपको तीन मातृको का यदि और कोई दूसरा अर्थ लगाना हो तो आप भी उसके लिए वैसी तपश्चर्या करे, आप भी अपना अर्थ लगा सकेगे। इसलिए यह आपत्ति इतनी महत्त्व की नही है। लेकिन मुख्य प्रश्न दूसरा ही है, और वह पहले आ चुका है। समीकरण में तीन मात्राओ के ऊपर जो आधी मात्रा है वह कहा से लायें? क्योकि तीन मातृको का अलग-अलग अर्थ कर, उनके योग मे से—यानी ॐकार मे से—ऋषि साढे तीन मात्रा निकालता है। उदाहरणार्थ अ=वाक्, उ=मन, म्=प्राण ऐसी कीमते बतलाकर ऋषि ॐ=आत्मा उत्तर निकालता है, सो कैसे? या तीन मातृको का अर्थ पृथिवी, अन्तरिक्ष और स्वर्ग किया जाय तो ॐकार यानी उन तीनो को जोडकर 'तीनो लोक' अर्थ होगा, लेकिन ऋषि तो 'तीन लोको का जिनसे निर्माण हुआ', उन देवराय से ही बोलने लगता है! इसका क्या अर्थ है? जग यानी जगदीश कैसे हो सकता है? यदि तीन मात्राओ का अर्थ स्वप्न-जागर-सुषुप्त किया जाय तब भी उनके योग मे से सर्व-साक्षिणी तुरीय-अवस्था कैसे निकलती है? प्रश्न यही है।

इस प्रश्न को हल करने से पहले एक बात ध्यान मे रखनी होगी। 'अ' का 'उ' का या 'म्' का वास्तविक अर्थ कुछ भी नही है। ये तो वर्णमाला के वर्ण है। लेकिन जब 'अ' का अर्थ पृथिवी, वाक् इत्यादि किया जाता है तब 'अ' अक्षर के स्थान पर पृथिवी अथवा वाणी की मूर्त्ति यह है, इस प्रकार से ध्यान की मानसिक क्रिया करके, कल्पना की जाती है। ऐसी स्थिति मे जब तीन मात्राओ की जगह तीन भावनाए रखते हो तब ऐसा नही होता कि उन तीन मात्राओ के योग पर यानी ॐकार पर, पहले की तीन भावनाओ के योग की ही भावना की जानी चाहिए। तीन मात्राओ पर पहले ध्यान-भावना करके फिर जोड करना, और तीन मात्राओ का पहले जोड़ करके फिर ध्यान-भावना करना, इन दोनो मे बहुत फर्क है। समझने के लिए हम बीजगणित का एक उदाहरण ले। $क^२+च^२$, और $(क+च)^२$ ये दो बैजिक पद है। पहले पद मे क और च इन दो पदो के पहले वर्ग करके, फिर उन वर्गो का योग किया है और दूसरे पद मे क और च इन दो पदो का पहले योग करके फिर उसका वर्ग किया है। इसलिए इस दूसरे पद मे '२ कच' एक नया ही पद, या आधी मात्रा पैदा हुई है और इस पद की कीमत $क^२+च^२=२$ कच होती है। इसी न्याय से अ+उ+म्=ॐ यद्यपि पर्याय रूप (आयडेण्टिकल) समीकरण हो, यानी उसके दोनो पक्षो की मात्राए या मूल्य एक ही हो, फिर भी 'अ' ध्यान+'उ' ध्यान+'म्' ध्यान इस फलित की अपेक्षा (अ+उ+म् ध्यान) अथवा ॐ ध्यान इस फलित की कीमत अधिक होनी ही चाहिए। यह कीमत कितनी होनी चाहिए, यह भले ही ध्यान की क्रिया किये बिना जानना सम्भव न हो, फिर भी कीमत अधिक होनी चाहिए या होना सभव है ऐसी कल्पना करने मे तो कोई भी आपत्ति नही होनी चाहिए। इस अधिक कीमत को योगीजन आधी मात्रा जैसी साकेतिक सज्ञा से दरसाते है। इसलिए तीन साढे-तीन कैसे बने, यह प्रश्न ही शेष नही रहता। इस प्रश्न की जड़ मे जो अज्ञान है उसकी चपेट मे ही सारे वैज्ञानिक आ गये है।

नही चलेगा। 'अ' कार का ध्यान करोगे तो पृथिवी के प्रभु बनोगे, 'उ' कार का ध्यान करोगे तो अन्तरिक्ष के अधिकारी बनोगे, 'म्' कार का ध्यान करोगे तो स्वर्ग के स्वामी बनोगे और तीनो का अलग-अलग ध्यान करोगे तो जगत् के विजेता बनोगे । लेकिन जगत् के विजेता होनेपर भी जगदीश हाथ नही आयगा। जगदीश को प्राप्त करने के लिए तीन मात्राओ का योग कर ॐकार का ध्यान करना होगा। इस 'योग'—सामर्थ्य से आधी मात्रा और बढ जाती है और तब जग=जगदीश का समीकरण हल होता है।

४

लेकिन इस समीकरण के हल हो जाने पर भी किसीके मन मे यह प्रश्न पैदा होगा कि ध्यान की सहायता से ही यदि यह समीकरण हल करना है, यानी कोई भी ब्रह्म-वाचक काल्पनिक सकेत ध्यान के लिए तैयार करना है, तो उसमे अपना स्वगत अर्थ होने की आवश्यकता नही है । यदि ऐसी बात है तब ॐकार का ही चुनाव करने मे कौन-सी विशेषता है ? कोई इसका उत्तर अशोकवनिका-न्याय के अनुसार देगे। सीता को अशोक-वन मे ही क्यो रखा गया, इसलिए कि आम्र-वन मे नही रखा गया। इसी प्रकार, ॐकार को ही क्यो पसन्द किया गया ? इसलिए कि 'टो' कार को पसन्द नही किया गया। लेकिन यह उत्तर ठीक नही। ॐकार मे जो स्वगत सामर्थ्य है वह 'टो'कार में नही है। और यह स्वगत सामर्थ्य ऋषियों को इष्ट है। ऋषियो के सारे दर्शन का रहस्य 'सर्वेषामविरोधेन ब्रह्मकर्म समारभे'— किसीसे भी विरोध न हो इस प्रकार मै धर्माचरण करूगा'—इस प्रतिज्ञा मे है। सभी धर्मो की दिशा अविरोध, अभेद, ऐक्य अथवा अद्वैत यही है, या होनी चाहिए। किसी भी धर्म को लीजिए, दुनिया के भेद कैसे कम होगे इसी एक चिन्ता से वह प्रवृत्त होता रहता है। उदाहरणार्थ भेदात्मक दिखाई देनेवाला चातुर्वण्यात्मक धर्म भी वस्तुत अभेद फैलाने के लिए ही निर्मित हुआ है। जिस समाज मे स्वार्थ की हजारो शाखा-उपशाखाए फूटी हुई है

इतना ही नही मैं तीनो लोको मे रहता हू, इस अर्थ के अनुसार मेरे 'त्रय-स्थ पन' (तटस्थता) मे भी बाधा नही आती। हा, मेरी इतनी योग्यता न होने के कारण मै अपने को त्रय-स्थ (तटस्थ) नही कहने देता, यह बात अलग है। इसका अर्थ यह है कि मनुष्य की मर्यादित शक्ति के अनुसार वह अपने लिए जो धर्म स्वीकार करता है—या जिस धर्म को स्वीकार करने के लिए शास्त्र ने उसे कहा है—उस धर्म का पालन करते हुए उसमे दूसरे धर्मो के लिए भी गुजाइश रखने की सहिष्णुता होनी चाहिए। जिसे हम व्यावहारिक भाषा मे सहिष्णुता कहते है उसे दर्शनकारों ने 'अविरोध' 'समन्वय', या 'एकवाक्यता' कहा है। जैन-शास्त्रकारो ने इसे 'मध्यस्थ-दृष्टि' नाम दिया है। भक्त-जन इसीको अभेद-भाव, अद्वैत-भाव आदि मीठे-मीठे शब्दो से पुकारते है। 'मै ब्राह्मण हू' कहने मे मै परमेश्वर के एक अग को स्वीकार करता हू, लेकिन इसका यदि यह अर्थ हो कि 'मै महार[1] नही हू' तो इसके द्वारा उसी परमेश्वर के दूसरे अग का मै तिरस्कार या निषेध करता हू, इसलिए जितने अश मे मैने ईश्वर को स्वीकार किया है उतने ही अशो मे वह इकार करने के समान हो जाता है, क्योकि ईश्वर इस बात को स्वीकार नही कर सकता यानी ऐसा करके मै ईश्वर-द्रोही साबित होता हूँ। इसलिए यद्यपि मैने अपने विशिष्ट ब्राह्मण-धर्म के लिए तीन मात्राएँ रखी है फिर भी आधी मात्रा अन्य सभी ब्राह्मणेतर धर्मो के लिए रखकर इस साढे तीन मात्रावाले ॐकार की उपासना करना ही मेरे धर्म का वास्तविक अर्थ है। और यहा भी आधी मात्रा मे शेष तीनो मात्राओ से ज्यादा योग्यता है। यह 'आधी मात्रा', 'अविरोध वृत्ति', 'सर्व-सहिष्णुता' या 'सर्वभूती भग-

---

(काय-स्थ) शरीर-निवासी, एक जाति विशेष; (गृह-स्थ) घर में रहने वाला, ससारी; देशस्थ (देश-स्थ) देश में रहने वाला, महाराष्ट्रीय ब्राह्मणो की एक उपजाति।

[1] एक अछूत जाति।

ध्वनिया, सहन हो सकती है। किसी भी स्वर से यह विसवादी नही होता, बल्कि इसके विश्व-सवादी नाद मे अनेक विसवादी स्वर खप जाते हैं। इसीलिए गायक लोग तम्बूरे पर ॐकार की ध्वनि लगाकर उस ध्वनि के साथ गाते है। सारे गायक इस ॐकार-नादिनी वीणा का नित्यश उपयोग करते है, उसकी ॐकार सदृश आकृति देखते है,स्वर चढाने-उतारने के लिए उसकी आधी मात्रा की खूटी मरोडते है, किन्तु इतना करने पर भी चूकि उन्हे उसके स्वरूप का ज्ञान नही रहता, इसलिए बेचारे सिर्फ धन के भागीदार बनते है। 'तद् ये इमे वीणाया गायन्ति, एत ते गायति, तस्मात् ते धनसनय ।' लेकिन नारद-जैसो को इस वीणा की पहचान है, इसलिए वे इसकी उपासना से मोक्षपद के अधिकारी बनते है। सर्व-सहिष्णु, विश्व-सवादी ॐकार का मधुर बोल बोलनेवाली यह वीणा भला कौन-सी होगी ? देवी सरस्वती की इस ॐकार-नादिनी वीणा को ऋषि 'शान्ति' के नाम से पह-चानते है, परन्तु इससे अधिक परिचय कर लेने के पूर्व ऋषि-सम्प्रदाय के अनुसार इसका तीन बार स्मरण करना चाहिए। ॐ शान्ति शान्ति शान्ति ।

इद ब्रह्म' उसका हेतु-वाक्य है। उपासना शान्त वृत्ति से क्यो की जाय ? इसलिए कि विश्व की प्रत्येक चीज ब्रह्म-रस से सराबोर है। लेकिन यह कैसे जाना जाय ? यह दिखलाने के लिए आगे 'तज्जलान्' गूढ सज्ञा दी गई है। 'तज्जलान्' शब्द मे तज्ज (यानी तत्-ज=उससे पैदा हुए), तल्ल (यानी तत्-ल=उसीमे लीन होनेवाले) और तदन (यानी तत्-अन--उसके बल पर हिलने-डुलने वाले) ऐसे तीन हिस्से है। इन सबके योग से 'तज्जलान्' या सस्कृत की विभक्ति इस्तेमाल की जाय तो 'तज्जलानम्,' रूप होता। परतु ऋषियो की परोक्ष-प्रियता ने इसकी आधी मात्रा कम कर दी। इसलिए तज्जलान रूप सिद्ध होता है। तदनुसार इस साकेतिक सज्ञा का अर्थ हुआ "सारा जगत् एक ही ब्रह्म से उत्पन्न होता है (जायते), उसीके बल पर चलता है (अनिति) और अत मे उसीमे लीन हो जाता ह (लीयते)।" इस समूचे वाक्य से कार्य-कारण-भाव से बधा हुआ यह पूर्ण, सुसघटित विचार पैदा होता है कि उपासना शान्त-वृत्ति से क्यो की जाय ? वह इसलिए कि सब ब्रह्म-रूप है। सब ब्रह्म-रूप है, इसका क्या आधार ? वह 'तज्जलान्' है। इसलिए हमारी राय मे यही अर्थ सूचित करने के लिए ॐकार को उद्गीथ सज्ञा दी गई है। ॐकार-वाचक प्रणव शब्द 'नु-स्तुति करना' धातु को 'प्र' उपसर्ग लगाकर बनाया गया है। उसका अर्थ उत्तम स्तुति होता है। उसी प्रकार उद्गीथ शब्द भी 'गै'-गाना धातु को 'उत्' उपसर्ग जोडने से बना है। उसका अर्थ भी 'उच्च गायन' या 'उत्तम स्तुति' ही होता है। लेकिन इस बाह्य अर्थ को कायम रखकर भी 'उद्गीथाक्षराण्युपासीत'--उद्गीथ के अक्षरो की उपासना की जाय--का विधान होने के कारण उद्-गीथ शब्द के अक्षरो मे से उत्पन्न होनेवाला दूसरा आन्तरिक अर्थ ऋषियो ने विवक्षित रखा है। उद्गीथ के 'उत्', 'गी' और 'थम्' ऐसे तीन हिस्से स्वय ऋषियो ने करके दिखाये है। हमारी समझ से 'उत्' उत्पत्ति का सूचक ह, 'गी.' और 'थम्' शब्द क्रमशः 'गॄ'--निगलना, और 'स्था'--रहना या टिकना

धातु से उत्पन्न हुए है, इसलिए उनका अर्थ 'लय' और 'स्थिति' होता है। इसलि उद्गीथ के अक्षरो का, और चूकि ये ही ॐकार की तीन मात्राए है, इसलिए पर्याय से ॐकार की मात्राओ का, सकलित अर्थ 'तज्जलान्' शब्द की भाति होता है। सारे जगत् मे 'उद्गीथ' किवा ॐकार रूप एक ही पैतृक सत्ता का शासन है, इसलिए उपनिषदो की विचार-सरणी के अनुसार, 'उद्-गीथ' शब्द से, इस प्रेममय शासन मे रहनेवाले प्रजाजनो को स्वतत्रता और शाति से रहना चाहिए, असहिष्णुता की अभद्र भाषा नही बोलनी चाहिए, यह भाव सूचित होता है, यानी 'उद्गीथ' इस एक ही शब्द मे शान्ति और उसके पीछे का अद्वैत दोनो का अर्थ निहित है।

इस शान्ति रूप उद्-गीथ का रहस्य प्रकाशित करनेवाली एक आख्यायिका छादोग्योपनिषद् मे आई है—"पहले देवासुर सग्राम में देवताओ ने असुरो को पराजित करने के लिए उद्-गीथ का आश्रय लिया था। प्रारभ मे, उन्होने नाक मे रहने वाले प्राण (वायु) को ही उद्-गीथ समझकर, उसकी उपासना की। लेकिन असुरो ने उस प्राण पर (यानी घ्राण पर) 'पाप' फेंककर मारा। बेचारा प्राण पाप-विद्ध होने के कारण सुगन्ध के साथ दुर्गंध भी सूघने लगा और निरुपयोगी साबित हुआ। इसके बाद देवताओ ने वाणी की उद्-गीथ बुद्धि से उपासना की। लेकिन उसपर भी असुरो द्वारा की गई पाप की मार चल गई और वह सत्य के साथ अनृत भी बोलने लगी। इसी प्रकार फिर आँख, कान और अन्त मे मन की परीक्षा हुई, और तीनो पाप-ससर्ग से भ्रष्ट हो जाने के कारण अयोग्य साबित हुए। इसपर देवताओ ने मुख्य प्राण (यानी आत्मा) ही सच्चा उद्-गीथ है यह जानकर उसकी उपासना की। असुरो ने उसपर भी पाप का प्रयोग किया होगा, लेकिन दूसरे नकली उद्-गीथ के समान उसपर जब पाप का कुछ बस नही चला, तब आखिर असुर खुद उसपर टूट पडे। लेकिन वहा कुदालीतक कुछ नही

कर सकती, ऐसे किसी काले पत्थर पर (अश्माऽखण) जिस प्रकार मिट्टी का ढेला चूर-चूर हो जाता है, वैसे ही इस अश्माऽखणा पर गिरकर सारे असुरो का विध्वस हो गया ।" इसी आख्यायिका का अनुवाद वृहदारण्यक उपनिषद् मे किया गया है। वहा इस उद्गीथ-देवता को 'दूर' नामक देवता की सज्ञा दी गई है, क्योकि इससे मृत्यु 'दूर्' रहता है, ऐसा कहा गया है। (वृ० १—३—९) वस्तुत जिस देवासुर-सग्राम का वर्णन उपर्युक्त आख्यायिका मे किया गया है वह केवल ऐतिहासिक नही है। भाष्यकारो ने कहा है कि ऐसा सग्राम सभी प्राणियो के शरीर मे अनादिकाल से सतत चलता आ रहा है। इन्द्रियो पर चूकि पाप का वाण चल जाता है, इसलिए इन्द्रिय-सुख के गीत भयानक श्मशान-गीत है, शान्ति-गीत (उद्गीथ) नही । 'किमह पापम्-करवम्'—क्या मेरे हाथो पाप हुआ होगा ?—यह शका जहां जागृत है वहा चूकि मृत्यु का कु-दर्शन चक्र गोल-गोल घूमता रहता है, इसलिए वहा शान्ति का पुण्य-निवास नही हो सकता। अतएव शान्ति-समृद्ध अमृत का (तै०—१—६—२) पान करने की इच्छावाले को अ-पापविद्ध ॐकार की या मृत्यु जिसके डर से दूर भागता है उस दूर नामक उद्-गीथ देवता की उपासना करनी चाहिए, यह इस आख्यायिका का कहना है। साराश यह है कि अविरोधात्मक वृत्ति से अद्वैत तत्त्व की उपासना करके अमरत्व सम्पादन करे या शान्ति से शान्ति की उपासना कर शान्ति प्राप्त करे, ॐकारोपासना का ऐसा एकात्मस्वरूप दिखाने के लिए ऋषि, ॐकार का स्मरण कर शान्ति शब्द की निरुक्ति करते है। इसी शान्ति को ही पुरानी वैदिक भाषा मे चूकि 'शम्' कहते थे, इसलिए ॐकार के दूसरे सगुण नाम 'शं-कर' या 'श-भू' है। केनोपनिषद् मे चूकि ॐकार को उमा का स्वरूप दिया गया है और कालिदास के कथनानुसार पार्वती और परमेश्वर वाक् और अर्थ जैसे अन्योन्य-सपृक्त है, इसलिए यदि उमा को ॐकार का वाच्यार्थ कहा जाय तो श-भू को ॐकार का लक्ष्यार्थ कहा जा

सकेगा। 'उमया सह सोम '—उमा के साथ है इसलिए सोम—इस व्युत्पत्ति से 'नम सोमाय च रुद्राय च', इस रुद्राध्याय के वचन मे शकर को सोम सज्ञा दी गई है। सोम शब्द का दूसरा अर्थ चन्द्रमा भी होता है। इसपर ॐकार की छाप कलक-रूप से स्पष्ट दिखाई देती है, यह बात पहले ही कही जा चुकी है और वह उसके शान्त तेज के बिलकुल अनुरूप है। कई लोगो का मत है कि गणपति की मूर्ति ॐकार के आकार को ध्यान मे रखकर ही बनाई गई है और यह भी उपनिषदो की कल्पना के अनुसार है। "गणाना त्वा गणपति हवामहे ज्येष्ठ राज ब्रह्मणा ब्रह्मणस्पते" गृत्समद ऋषि का यह प्रसिद्ध मत्र ब्रह्मणस्पति को गणपति विशेषण देता है और ॐकार शब्द ही ब्रह्म का मथित है, इसलिए ब्रह्मणस्पति है, ऐसा वर्णन उपनिषदो मे आता है। (बृह० १-३-२१) । और उसपर से ही गणपति वाङमय का अधिष्ठाता देवता माना जाता है। अन्त मे 'त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति' (ऋ ४–५८–३)—(तीन मात्राओ से) तीन जगह बॉधा हुआ वृषभ (प्रत्येक के हृदय-मन्दिर मे, जीवन के अत्यन्त अन्त स्थल में, 'हृदि अन्तरायुषि') गर्जना करता रहता है—वामदेव की इस उक्ति के अनुसार शकर का वाहन माना गया नन्दी भीॐकार का ही प्रतीक जान पडता है। इस प्रकार वृषभ, गणपति, सोम, उमा और शकर ये सब ॐकार परिवार के होने के कारण शान्ति के पर्याय ही है। इसलिए ॐकार के वर्णन मे शान्त शिव अद्वैत (माण्डूक्य) विशेषण आते है।

२

लेकिन ऋषियो की कल्पना सृष्टि के शिव-पचायतन का स्वरूप कितना ही शान्तिमय हो, फिर भी हमारे व्यवहार को शकर तामसी, उमा चडी, चद्र क्षयरोगी, गणपति वक्रतुण्ड और बैल सीग मारनेवाले होने के कारण हमारे लिए तीन-तीन बार उच्चारण करने पर भी शान्ति का कही भी प्रत्यय

नही आता। 'विश्व तद् भद्र यदवन्ति देवा'—सारा विश्व भद्र है, कारण क्योकि देवता उसकी रक्षा करनेवाले है—वेद के ऐसे कितने ही वचन हमारे सामने पेश किये जाय फिर भी इन रक्षा करनेवाले देवताओ का हमारे व्यवहार मे कही भी दर्शन नही होता, इसलिए इस विश्व का शान्तिमय होना हमारे अनुभव के अनुसार निरा जबानी जमा-खर्च प्रतीत होता है। 'नम सोमाय'—सौम्य स्वरूप को नमस्कार—इस उपासना का ऋषियो को प्रत्यय हुआ हो, फिर भी हमारे पल्ले तो 'नमो रुद्राय' ऐसी 'रुद्र'—उपासना ही आई है। 'बुभुक्षमाणो रुद्र रूपेण अवतिष्ठते'—भूखा मनुष्य रुद्र बन जाता है—ऋषियो के वचन है। तब इस 'दरिद्र नील-लोहित' रुद्र का, यानी लाल-नीली आँखो वाले बुभुक्षित दारिद्रय का समाधान करना कितना कठिन हो गया है, इस बात का जीवनार्थ कलह मे फसे हुए हम लोगो को पद-पद पर अनुभव होता है, और इसलिए निरा 'शान्ति शान्ति शान्ति' का शुष्क सकल्प न कहकर यदि 'शान्तिस् तुष्टि: पुष्टिश् चास्तु' जैसा कोई पौष्टिक या आर्द्र आशीर्वाद दिया जाय, तब तो उस सालन के साथ शान्ति का यह सूखा कौर भी हम जैसे-तैसे निगल जायगे, अन्यथा यह शान्ति हमे न तो पचेगी और न जचेगी ही। 'उमा' का अर्थ शान्ति हो, तो भी हमे तो 'अन्न-पूर्णा' अर्थ चाहिए। उसके बिना हमारा समाधान नही होगा—ऐसा आक्षेप सहज ही किया जा सकता है। अन्न-शास्त्र के अनुसार सूखा अन्न ही अधिक पचता है, इसलिए पुष्टि के बिना शान्ति नही पचेगी, यह कहना भले ही विवादास्पद हो, फिर भी वह नही जचेगी, यह कहना उचित है। इसलिए ॐ चूकि अनुज्ञाक्षर है, अत अविरोध वृत्ति या शान्ति ही उसका निश्चित और उत्तम अर्थ हो, फिर भी 'एषा एव समृद्धिर् यदनुज्ञा' (छ १-१-८)—अनुज्ञा मे समृद्धि अपने आप आती है—यह नियम है, इसलिए समृद्धि के लिए या पुष्टि के लिए स्वतत्र उपासना की जरूरत नही, ॐकार की शान्तिमय उपासना मे से ही

पारमार्थिक ज्ञान के प्रकाश के साथ ही ऐहिक समृद्धि की ऊष्मा भी प्राप्त हो सकती है, ऐसा उपनिषदो मे कहा गया है । वस्तुत 'जीवनार्थ कलह' शब्द व्याघातमक है,इसलिए उसका अर्थ लगभग 'जीवनार्थ मरण' होता है । कलह से या विरोध-वृत्ति से जीवन समृद्ध होगा, यह आशा व्यर्थ है । अतिरिक्त अन्न-सग्रह के लिए कलह करनेवाले, जान पडता है, अन्न का स्वभाव भूल जाते है । "अद्यते अत्ति च भूतानि । तस्माद् अन्न तदुच्यते"—सव प्राणियो के द्वारा खाया जाता है (अद्—'खाना' इसी धातु से अन्न शब्द बना है), इतना ही नही, वल्कि सव प्राणियो को खा जाता है—अन्न का स्वभाव ऐसा दुहरा है । मनु ने मास-भक्षण के दोष वतलाते हुए 'मा स भक्षयितामुत्र यस्य मासमिहाद्म्यहम्'—मै जिसका मास खाता हू वह मुझे (मा स) आगे जाकर खाये विना नही रहेगा—मास का ऐसा व्युत्पत्ति-पूर्वक धर्म वताया है । यही न्याय सामान्यत सभी अन्नो को लागू होता है । हम 'अन्न को खाते है' तो वह हमे अच्छा लगता है । लेकिन इसके विपरीत जव अन्न हमें खाता है, तव रोने की बारी आती ह । मास या अन्न का ही नही, सारी जड सृष्टि का 'जैसे के साथ तैसा' वाला कठोर नियम है । या विशेष अन्वर्थक भाषा मे कहना हो तो सृष्टि का यह कठोर नियम है ऐसा कहने की अपेक्षा सरल स्वभाव है, यही कहना होगा । 'जैसे के साथ तैसा' का अर्थ यह होता ह कि सृष्टि चूकि जड है, इसलिए उसमे जैसे क्षमा करने की वुद्धि नही है, वैसे ही वदला लेने की भी वुद्धि नही है । सृष्टि का स्वभाव न्याय-निष्ठुर कहा जाता है, लेकिन 'न्याय-निष्ठुर' विशेषण के समान ही 'न्याय-प्रेमी' विशेषण भी उसपर लागू किया जा सकता है । दुष्ट पुरुष को 'कठोर' जान पडने वाले सृष्टि के इस नियम का फायदा उठाने की युक्ति साधु-पुरुष को उस नियम से ही मिला करती है । साधु-पुरुष सृष्टि से अविरोध-वृत्ति रखते है और सृष्टि को भी अपने 'जैसे के साथ तैसे' न्याय के अनुसार ही उनसे व्यवहार करते समय अविरोध-

वृत्ति रखनी पडती है। सौम्य-वृत्ति को सृष्टि का स्वरूप 'सोम' दिखाई देता है। रौद्रवृत्ति को 'रुद्र' दिखाई देता है। शाक्तों को शीघ्र-कोपी शकर के दर्शन होते हो, पर भक्तो का तो चूकि उसके 'आशु-तोष' किंवा भोले स्वरूप से ही परिचय है, इसलिए जीवन-सघर्ष मे सफल होने का मार्ग, उनके मत से, जीवनार्थ कलह मे 'गिरना' न होकर जीवनार्थ कलह को ही अविरोध वृत्ति से 'गिराना' है। शान्ति ही पेटभर अन्न देनेवाली अन्न-पूर्णा देवी है। लेकिन पेट भर जाने के बाद फिजूल बर्बाद करने के लिए या बचाकर रखने के लिए वह सब्जी का पत्ता तक नही दे सकेगी, क्योकि उसे सबकी समान चिन्ता ह । जो दूसरो की समृद्धि को 'अनुज्ञा' देगी या पुष्टि के लिए जगह रखेगी, उसको पूर्ण समृद्धि प्राप्त होगी।

जहा अनुज्ञा वहा समृद्धि या जहा शान्ति वहा पुष्टि, यह समाज-शास्त्र का नियम है, इसलिए शान्तिमय ॐकार ही सारी समृद्धि का आश्रय है, ऐसा सुझानेवाली एक आख्यायिका छादोग्य-उपनिषद के पाचवे अध्याय मे है। "एक बार शरीर के भिन्न-भिन्न प्राणो मे (यानी शक्तियो मे) 'मै ही श्रेष्ठ हू,' ऐसा विवाद शुरू हुआ। नित्य नियम के अनुसार उस विवाद का कुछ भी निर्णय न होने के कारण, अन्त मे सबने प्रजापति से प्रश्न किया। तब उसने कहा कि तुममे से जिसके अभाव मे शरीर अधिक पापिष्ठ दिखाई देगा उसे श्रेष्ठ मानना चाहिए। सबसे पहले शरीर से वाणी निकल गई। वह एक वर्ष तक बाहर प्रवास करके जब लौटी तो दूसरे प्राणो से पूछने लगी, 'तुम मेरे विना कैसे रहे ?' उन्होने उत्तर दिया, 'जैसे गूगा मनुष्य बोले विना जीवन की शेष सव क्रियाएँ करके जीवित रहता है, वैसे ही हम रहे।' फिर ऑखे एक वर्ष भर घूम फिर-कर लौटी। 'मेरे विना तुम कैसे रहे ?' 'जैसा अन्धा रहता है, वैसे।' कानो की वही हालत। 'मेरे विना तुम कैसे रहे?' 'जैसे बहरा रहता है वैसे।' मन भी एक वर्ष अज्ञातवास मे बिताकर वापस आया।

'मेरे विना कैसे क्या चला ?' 'जैसे वालको का काम चलता है, वैसे ।' आखिर मुख्य प्राण ने प्रस्थान की तैयारी की। लेकिन उसने वाहर की देहली मे पॉव रखा ही था कि इधर सवकी नाडियॉ खिचने लगी, सभी आजिज आ गये और मिन्नते करने लगे कि ऐसा प्रयोग अव मत करो। तू ही हममे श्रेष्ठ है। वाणी कहने लगी—'मुझमे जो वशीकरण शक्ति (वसिष्ठ) है वह तेरी ही है।' आँखे कहने लगी, 'हमारी प्रतिष्ठा वस्तुत तेरी ही प्रतिष्ठा है।' कान कहने लगे, 'हमारी सम्पत्ति तेरी ही सम्पत्ति ह।' मन भी कहने लगा, 'मुझमे जो आकर्षण शक्ति (आ-यतन) ह वह तुझसे ही मिली है।' सारी शक्तिया मुख्य प्राण पर अवलम्बित है, इसलिए शरीर की सभी शक्तियो को 'प्राण' सज्ञा देते है। इस आख्यायिका का मुख्य प्राण उद्-गीथ या ॐकार है, इसलिए ॐकार ही विश्व की सारी शक्तियो का अतिम आधार है। जिस सूत्र मे भिन्न-भिन्न मणि पिरोये हुए हो, उसमे यदि समन्वय-शक्ति, सहिष्णुता, सभीको अनुज्ञा देने की उदार अविरोध-वृत्ति या 'शान्ति' न हो, तो फिर उससे किन दूसरी वातो की अपेक्षा की जाय ? शरीर के सभी तत्त्व चूकि प्राण-सूत्र में पिरोये हुए है, इसलिए वे एक प्राण शव्द से ही पहचाने जाते ह, उसी प्रकार से विश्व की सारी यच्चयावत् समृद्धि, सारी शक्ति या सारी विद्या चूकि अद्वैतात्मक शान्ति मे एकत्रित है, इसलिए उन सवको ऋषियो ने 'शान्ति' ही नाम दिया है। इन सारी शक्तियो के, या वैदिक भाषा मे 'विश्वेदेवो' के, आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक, या पौराणिक भाषा मे लक्ष्मी, शक्ति और सरस्वती ऐसे तीन वर्ग करने पर, इन तीनो का आवाहन करने के उद्देश्य से 'शान्ति' शव्द का त्रिरुच्चार कर ऋषि स्वाध्याय का प्रारभ करते है।

या प्राणेन संभवति अदितिर् देवतामयी।
गुहा प्रविश्य तिष्ठन्ती या भूतेभिर् व्यजायत॥
एतद् वैतत् (कठ० ४–७)

"आत्म-तत्त्व की या ॐकार की उपासना से (प्राणेन) उत्पन्न होता है इसलिए जिसमे सारी शक्तियो का समावेश (देवता-मयी) हो सकता है, और हृदय मे (गुहा) प्रवेश करके जो भिन्न-भिन्न प्राणियो मे भिन्न-भिन्न रूपो मे प्रकट होती है, वही है यह अदिति जिसकी अपेक्षा से तू मेरे पास आया है" इस प्रकार से कठोपनिषद् मे मृत्यु ने नचिकेता को जो कहा है वह इस सर्वसमृद्ध शाति के लिए ही है। 'अ-दिति' शब्द 'दो-टुकडे करना' धातु से लगाते है। विश्व के सब टुकडो को सीकर अखण्ड स्वरूप देनेवाली जो अद्वैत शक्ति प्राणिमात्र मे काम कर रही है, उसे 'अदिति' नाम दिया गया है। जो प्रेमल करुणा, सूर्य-बिम्ब का चुम्बन करने के लिए आकाश मे ऊँची उडान भरनेवाले वर्डस्वर्थ के चडोल (स्काइलार्क) पक्षी के पैर घोसले की ओर खीचकर स्वर्ग को पृथिवी से सलग्न करती है, क्रौच पक्षी के वध से आर्द्र बने करुण-कवि के पवित्र शोक को श्लोकत्व देकर भूतकाल का भविष्यकाल से सम्बन्ध जोड देती है, साडी के रूप मे द्रौपदी की लाज रखकर जड की चैतन्य से मैत्री कराती है, जो सार्वभौम अहिसा मनुष्य का पशु-सृष्टि से सयोग करने के लिए, ब्रह्मध्यान से योग-निद्रा मे सोये हुए भर्तृहरि के शरीर पर बूढे हरिण से सीग घिसवाती है, 'तुका म्हणे जे जे भेटे । ते ते वाटे मी ऐसे'—तुकाराम कहते है कि जो-जो मिलता है, वह मुझ जैसा ही लगता है।—इस वृत्ति से विहार करनेवाले तुकाराम के कन्धे पर पक्षियो का खेल कराती है, सेट फ्रान्सिस आव असिसी की निर्वैर गोदी मे सर्पो को सुलाती है, जो विश्वरूप आर्कषण-शक्ति, विश्व को एकत्रित करने के लिए, सारी वस्तुओ को 'वजनदार' बनाकर, आकाश के अनन्त आगन मे चन्द्रमा को पृथिवी के आसपास, पृथिवी को सूर्य के, सूर्य को ध्रुव के, और ध्रुव को भी कदाचित् किसी सौर के चारो ओर फेरे लगवाती है, चन्द्र-दर्शन से समुद्र पर ज्वार की तरगे पैदा करती है, लोहे को लोह-चुम्बक से मिलाती है, जो अमर आशा, मृत्यु का जीवन से योग कराने के लिए तपस्वी पुरुषो का शरीर चन्दन की

तरह तिल-तिल क्षय कराती है, सती को पति के साथ जलाती है, राष्ट्रवीर को रण-भूमि से भागने नही देती, जो आध्यात्मिक ज्ञानवत्सलता, ब्रह्मनिष्ठ ऋपियो के मुखो से 'नैतान् विहाय कृपणान् विमुमुक्ष एक'—इन कृपण-जनो को छोडकर हम अकेले ही मुक्त होने की इच्छा नही करते—जैसे परार्थ-निष्ठा के स्नेह-मधुर उद्गार वुलवाकर उपनिपदादि दिव्य सरस्वती के रूप मे हमारे उद्धार के लिए अवतीर्ण होती है, वही है यह वैदिको के तीन वार स्मरण योग्य,हृदयाधिष्ठात्री, सर्व-देवतामयी, विविध नाम-रूपो से सजी हुई,शाति रूपिणी,और इसीलिए हिम-वान की (यानी शीतल निश्चय की) कन्या मानी गई, देवी उमा या 'अदिति'। सभी अगो की वाणी वनाकर ऋपियो ने इसकी प्रार्थना की है

अदितिर् द्यौरदितिरन्तरिक्षम् ।
अदितिर् माता स पिता स पुत्र ।
विश्वे देवा अदिति पचजना ।
अदितिर् जातमदितिर् जनित्वम्॥ (ऋग्वेद १-८-१०)

"दिव्य तेज से जगमगाने वाली प्रतिभा (द्यौ),चैतन्य की आतरिक स्फूर्ति (अन्तरि-क्षम्),छोटे-वडे सवके प्रति उदार समान-वृत्ति (मा-ता), जगत् पर रक्षा के पख फैलानेवाला व्यापक प्रेम (पि-ता), सारे ससार को सुखमय वनाने वाली पवित्रता (पु-त्र), विश्व-सग्रह की शक्ति (विश्वे-देवा), पाच वर्णिक मानव-वश के प्रति सहानुभूति (पच जना), भूतकाल का अनादि स्मरण (जातम्),और भविष्यकाल के लिए अनन्त आशा (जनित्वम्), ये सव अदिति मे एकत्रित हुए है," इन शब्दो मे रहूगण-पुत्र गौतम ने वर्णन किया है और, 'को नो मह्या अदितये पुनर् दात्'—मुझे इस महान् अदिति के पास कौन पहुचायगा ? 'इस एक ही चिन्ता से ऋषियो की सारी साधना प्रवृत्त हुई है। 'पिपर्तु नो अदिती राज-पुत्रा अति द्वेषासि'—अदिति हमे द्वेष से परे ले जावे—इस

प्रार्थना से अदिति का स्वरूप क्या होगा, यह ध्यान मे आ सकता है ।

३

इसी सर्व-द्वेपासीत अदिति या शान्ति को ही ऋषियो ने आत्मा का अन्तिम रूप माना है। साधना की दृष्टि से आत्मा के उत्तरोत्तर श्रेष्ठ पाँच रूप हो सकते है। जगत् के भिन्न-भिन्न विपय-रसो का अनुभव लेते हुए मनुष्य की कभी ऐसी एक अवस्था होना सभवनीय है जब उसके हृदय मे एक ऐसी अस्पष्ट ध्वनि उठे कि विपयो से भी 'पर' या श्रेष्ठ 'तत्त्व' होना चाहिए। यह भीतर की आवाज या आकाश-वाणी आत्मा का पहला रूप है। आत्मा के इस वाचिक स्वरूप को वागात्मा कहा जा सकता है। यहा से साधना प्रारम्भ होती है, इसलिए इसे आत्मा का प्राथमिक स्वरूप समझना चाहिए। वस्तुत इसके भी पीछे 'विपयात्मा' तो रहता ही है। लेकिन 'विपयात्मा' परमार्थ-साधना की दृष्टि से करीब-करीब 'शून्यात्मा' ही है। इसलिए इस आत्मा की साधना-मार्ग मे गिनती नही की जा सकती, या की गई तो उसे किसी कक्षा से भिन्न करना पडता है। इसलिए इस 'बिना-कक्षा' की स्थिति को पारकर वागात्मा को 'पहली कक्षा' वाला आत्मा कहना पडता है। जहा भीतर का 'शब्द' जागा कि मनुष्य अन्तर्मुख होने लगता है। परन्तु इस अवस्था मे यह अन्तर की आवाज अनिश्चित स्वरूप की होने के कारण, मनुष्य उसे आजमाने के लिए बाहर से ऋपियो का अनुभव, सन्तो की वाणी, इत्यादि शब्द-ब्रह्म की उपासना अथवा श्रवण-भक्ति शुरू करता है। लेकिन इन अन्तर-बाह्य श्रवणो के कारण विचारो की दिशाए दिखाई देने पर उन सब दिशाओ से मनुष्य की आशा बढने के सिवा, कुछ भी और कार्य नही होता। इसके विपरीत, यही रुकने पर गीता मे जैसे कहा है, मनुष्य और भी गडबडी मे पड जाता है। इसलिए इस 'श्रुति-विप्रतिपत्ति' से बाहर निकलने के लिए मनुष्य को सब शब्द-जाल तोड़कर मनन की मानसिक भूमिका

पर झंडा गाडना पडता है। यहा से सच्ची लडाई की शुरूआत होती है। यह आत्मा का दूसरा 'मनोमय' स्वरूप है। यहा वागात्मा का 'लय' हो जाता है, इसलिए जहा-जहा से मन फूट-फूटकर बहने लगता है वही मनोमय आत्मा बाध बाधकर उसे रोकने का प्रयत्न करता है। इस प्रयत्न को ही 'धारणा' सज्ञा दी जाती है। श्रोतव्य-भूमिका पर जो विविध दिशाए दिखाई पड गई थी उनमे से आत्मोन्नति की ध्रुव-दिशा निश्चित करने का काम चूकि मनन के कुतुबनुमे के द्वारा 'मन्तव्य' की भूमिका पर करना रहता है, इसलिए 'धारणा' की परिभाषा की जाती है—चित्त को विशिष्ट दिशा से बाध डालने का प्रयत्न—'देशबन्धश् चित्तस्य धारणा'—यदि दूसरी उपमा लेकर कहे तो श्रवण के द्वारा भक्षण किये हुए विचारो का मनन की भूमिका पर पाचन होता रहता है। यह पाचन पूरा होने पर विचारो का रूपान्तर ज्ञान-रस होता है। यहा मनन का कार्य समाप्त हो जाने के कारण मनोमय आत्मा का लय ज्ञानात्मा मे हो जाता है। 'मन्तव्य'—प्रयत्न का सम्पूर्ण परिपाक होनेपर (ध्यान का) 'निदिध्यासितव्य' प्रयत्न शेष रहता है। यह प्रयत्न इस तीसरी 'ज्ञान-मय' भूमिका पर होने से ज्ञान को निश्चित स्वरूप प्राप्त होता है। इस प्रकार से इस तीसरी भूमिका पर ज्ञान को निश्चितता प्राप्त होनेपर भी, इस निश्चित ज्ञान को समष्टि के व्यापक ज्ञान में लय करना पडता है। भूमिति का सिद्धात अच्छी तरह समझ लेने के बाद, वह व्यवहार मे किस तरह और कितने व्याप्त है, यह समझने के लिए उन सिद्धातो पर आधारित भिन्न-भिन्न प्रश्न हल करने पडते है। इसी प्रकार प्राप्त-ज्ञान का विश्व-सस्था में विनियोग (अप्लिकेशन) किये बिना वह निश्चित होते हुए भी पक्का नही हो सकता और उसकी व्याप्ति का भी आकलन नही होता। साथ ही ज्ञान निश्चित हो जानेपर अहकार पर काबू हो जाता हो तो भी उससे काम नही चलता। अहकार को काबू मे करने पर उसकी आमूल निवृत्ति करनी

पड़ती है, और वैसा करने के लिए इस काबू मे आये हुए अहकार को विश्व-व्यापक वनाना पडता है। अहकार मे हवा के समान स्थिति-स्थापकत्व का गुण है। छोटी-सी बोतल की हवा निकालकर किसी खाली की हुई बड़ी वोतल मे डाल दी जानेपर वह उस वडी बोतल के किसी एक कोने मे समाने लायक होते हुए भी वह उतनी ही जगह मे न रहकर खुद को सारी बोतल मे फैला देती है। मतलब यह कि उसे जितना क्षेत्र मिलता है उस सारे क्षेत्र मे वह छा जाती है। लेकिन इस प्रकार व्यापक बनने मे उसके परमाणु अधिक-अधिक खुले होने के कारण इस व्यापकता के साथ ही उसमे विरलता आती है और उस प्रमाण मे उसका जोर घट जाता है। अहकार भी मूलत छोटी-सी देह मे भरा होने के कारण घना और जोरदार होता है। इसी अहकार को कुटुम्ब तक व्यापक बनाने से उस प्रमाण मे विरल होकर उसका जोर उतना ही कम होता है, राष्ट्र तक व्यापक करने पर और भी विरल और वीर्यहीन हो जाता है। और अन्त मे,

अहं भूमिमददामार्याय ।
अहं वृष्टिं दाशुषे मर्त्याय ।
अहमपो अनयं वावशानाः ।
मम देवासो अनु केतुमायन् ॥

"मैने ही आर्य-पुरुषो के निवास के लिए भूमि उत्पन्न की, मैने ही त्यागवृत्ति वाले मनुष्य के लिए (दाशुषे) पर्जन्यवृष्टि निर्माण की, परमेश्वर की महिमा गाते हुए (वावशाना) पृथिवीतल पर वहनेवाले पवित्र जलो को मैने ही मार्ग दिखाया, सारे देवता मेरे ही ज्ञान का (केतु) अनुकरण करते है (ऋग्वेद, ४-२६-२)", वामदेव की इस श्रुति के अनुसार किवा "अणुरणीया थोकडा। तुका आकाशाएवढा"—अणुरेणुओं से भी छोटा, 'तुकाराम आकाश के वरावर है—इस सत-वचन के अनुसार इस अहंकार को विश्व-व्यापक वनाने पर उसके परमाणु अनन्त क्षेत्र

मे बँट जाने के कारण उनकी साधिक शक्ति छिन्न-विच्छिन्न हो जाती है। इसलिए व्यावहारिक विनियोग के द्वारा ज्ञान का मटका पकाकर तैयार करने के लिए और अहकार को निर्वीर्य करने के हेतु से व्यापक करने के लिए यह ज्ञानात्मा विश्व-कर्मा बननेपर, 'एष देवो विश्व-कर्मा महात्मा' इस श्रुतिवचन मे जिस तरह बताया है वह आत्मा का चौथा रूप 'महात्मा' प्रकट होता है। तीसरी 'ज्ञानमय' भूमिका प्राप्त होने के पहले अहकार काबू मे न आने से उसे चाहे जैसा झुकाने की ही शक्ति प्राप्त नही होती। तीसरी भूमिका मे यह शक्ति हाथ आती है। चौथी भूमिका मे इस शक्ति की सहायता से अहकार व्यापक बनाया जाता है। इसके बाद, व्यापक होने के कारण अति विरल बना हुआ यह अहकार सदा के लिए विलीन होनेपर चौथी भूमिका के 'महान् आत्मा' का 'शात आत्मा' मे अपने-आप ही लय हो जाता है। यह शात आत्मा आत्मा का परमशुद्ध स्वरूप है, इसलिए इसे साधना की भी पराकाष्ठा या अन्तिम छोर माना जाता है। यह सब अर्थ निम्न उपनिषद्-वाक्य मे सूत्ररूप मे कहा गया है

यच्छेद् वाङ्मनसी प्राज्ञस्
तद् यच्छेज् ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्
तद् यच्छेच् छान्त आत्मनि॥ (कठ० ३-१३)

"वाणी का मन मे लय किया जाय, मन का ज्ञानात्मा मे, ज्ञान का महदात्मा मे और आखिर मे इस महात्मा का शान्त आत्मा मे लय किया जाय।"

लेकिन शान्ति शान्ति के बीच भी फर्क है। पत्थर मूलत शान्त होता है और प्राण-प्रतिष्ठा का सिन्दूर लग जाने के बाद भी वैसे ही रहता है। लेकिन पत्थर की जड शान्ति अलग है और देवता की स्फूर्तिकारक शान्ति अलग। पत्थर और देवता दोनो ही एक अर्थ मे कर्म-सन्यासी कहे जा सकते है। लेकिन देवता के कर्म-सन्यास

मे से भक्त की चक्षुयुक्त श्रद्धा को कर्मयोग की अनन्त किरणे फैली हुई दिखाई देती है, इसलिए इस कर्म-सन्यास मे जो विशिष्ट सामर्थ्य है वह पत्थर के कर्म-सन्यास मे नही। यत्र अत्यन्त तेजी से घूमता हो या बिलकुल स्तब्ध हो, बाह्य दृष्टि से वह एक-जैसा ही दिखाई देता है। उसी प्रकार पत्थर और देवता दोनो स्थूल-दृष्टि को एक समान ही दिखाई दे, पर देवता का प्रचण्ड कर्म-प्रेरकत्व पत्थर मे नही है, इसलिए फर्क यह होता है कि एक के पैरो पर सिर रखा जाता है और दूसरे के सिर पर पैर रखे जाते है। शान्ति-जलधि वसिष्ठ ऋषि की शान्ति का वर्णन करते हुए इन्द्र के उद्‌गार है कि---'इनकी (शान्ति) महिमा समुद्र-जैसी गभीर है'--समुद्रस्येव महिमा गभीर , और साथ ही उनके साहस को लक्ष्य कर 'इनके वायुवेग की किसीसे तुलना नही हो सकती'---वातस्येव प्रजवो नान्येन--(ऋग्वेद ७-३३-८)। चूकि वसिष्ठ ऋषि की चैतन्य-मय शान्ति और श्मशान की भीषण शान्ति मे फर्क है, इसलिए 'विश्व-कर्मा महान् आत्मा' जिस शान्ति का अनुभव करते है, वह शान्ति आत्मा का शुद्ध रूप है, ऐसा ऋषियो ने कहा है। "मै 'अ'-कार से पृथिवी जैसा दृढ, 'उ'-कार से अन्तरिक्ष जैसा गहरा, 'म्'-कार से स्वर्ग के जैसा ऊँचा हू, इतना ही नही, पर इन तीन मात्राओ से मै त्रिभुवन-व्यापी विश्व-रूप हू।"--इतने ध्यान से भी ऋषि को सतोष नही होता। "आधी मात्रा से मै तीन लोको के परे, तीनो लोको को इच्छा के अनुसार झुकाकर रूप देनेवाला, विश्वकर्मा हू।" यह है उनकी ध्यान-भावना। इसलिए वाणी का मनन मे लय कर, निश्चित ज्ञान प्राप्त हो जानेपर भी, जबतक उस ज्ञान से आत्मा (महान्) विश्व-सग्रह-समर्थ नही बन जाता, अथवा दूसरे शब्दो मे, जबतक प्राप्त ज्ञान से विश्व-सग्रह का मथन नही किया जाता, तब-तक ऋषि के मतानुसार शान्ति-रूप नवनीत का दर्शन नही होता। ब्रह्मज्ञान से मनुष्य को शाति मिल जानेपर, कहते है, फिर वह इस विश्व के कर्म-चक्र मे नही आता---'यद्‌गत्वा न निवर्तन्ते'---लेकिन इसका यही अर्थ करने का कोई कारण नही कि वह कर्म-

शून्य ही बन जाता है। उलटे, 'यद्गत्वा न निवर्तन्ते' का अर्थ 'शान्ति प्राप्त होने के बाद निवृत्ति है ही नही', भी किया जा सकता है। हम कर्मयोग का कितना ही दिखावा करे फिर भी चूकि हमे शरीर का वन्धन है, इसलिए नीद आदि कुछ तो विश्रान्ति या निवृत्ति भोगनी ही पडती है। लेकिन शुद्ध आत्मा को ऐसा कोई भी बन्धन नही है, इसलिए उसकी अखण्ड, अविश्रान्त प्रवृत्ति जारी रहने मे किसी भी प्रकार की आपत्ति नही होती। शान्ति का अर्थ है कर्म की झझट न हो, यह कहना गलत नही है। लेकिन 'व्हाई शुड् ऑल लाइफ लेबर बी ?'—सारा जीवन कर्म-झझटमय ही क्यो करे ?—ऐसा टेनिसन् द्वारा उठाया हुआ प्रश्न सच्ची शान्ति के सामने नही टिकता। अत शान्ति को कर्म 'झझट' नही मालूम देता, यही इस कथन का अर्थ किया जाना चाहिए। सत स्वय का वर्णन करते हुए 'निजो तरी जागे' (नीद मे भी जागे हुए) कहते है, और वैदिक ऋषि भी 'न मा तमत् न श्रमत् नोत तन्द्रत्' (ऋग्वेद २-३०-७)—हमें आलस्य, थकावट, नीद बिलकुल न आये—ऐसी इच्छा करते है। सारा जीवन कर्म-झझट से भरा ही क्यो रहे ? यह रोना उनकी शान्ति को ज्ञात नही था।

शान्ति, निवृत्ति इत्यादि शब्दो के अर्थों पर अभी काफी धूल जमी हुई है। इसलिए ऋषि-वचनो का वास्तविक अर्थ हमारी बुद्धि की पहुच के परे चला गया है। शान्ति या निवृत्ति का अर्थ अकर्मण्यता नही है। खुद भगवान भी बार-बार अवतार लेकर धर्म-सस्थापन के कर्म करते है। 'बार-बार' शब्द भी ठीक नही है, क्योकि जैसा वेदो मे कहा गया है "त्रीणि पदा विचक्रमे । विष्णुर्गोपा अदाभ्य । अतो धर्माणि धारयन्" (ऋग्वेद १–२२–२८) विश्वगोप्ता निर्दंभ परमेश्वर तीन कदम रखकर (यानी तीन मात्रा के योग से) धर्म-धारण का काम 'सतत' करता ही रहता है, तथापि हमें स्पष्ट प्रतीत होनेवाले जो उनके कार्य होते है उन्हीको हम अवतार-कार्य कहकर पहचानते है। इस रीति से परमेश्वर के 'दिव्य जन्म-कर्म' (गीता

४-९) रातदिन चलते रहते है। अनासक्ति की आधी मात्रा (जिसे 'तद् विष्णो परम पदम्' यानी 'विष्णु का बडा पद' कहते है वह) पास होने से, उसकी शान्ति को बाधा नही पहुचती। यह ध्यान मे रखनेपर शान्ति का सच्चा अर्थ क्या हो, यह स्पष्ट होगा। शान्ति का अर्थ कर्म मे से या दुनिया से छूटना नही है। स्वतत्रता से, ज्ञानपूर्वक, अनासक्त रहकर कर्म करना—यही उसका अर्थ है। यह कर्म सत्कर्म ही होने चाहिए। 'मुक्ति' का अर्थ है 'मृत्यो मृत्यु'—मरण का मरण, जीवन का मरण नही। इसलिए इस मुक्ति की शान्त भूमिका पर अखड (सत्-) कर्म चलते रहते है। परतु यह (सत्) कर्म उस अवस्था मे स्वतत्र इच्छा से होते है और आत्मा उनसे लिप्त नही होती। इसलिए इस अवस्था को 'निवृत्ति', 'मुक्ति' या 'शान्ति', ये सज्ञाएँ दी गई है। जीवन का, सत्कर्म का, या इच्छा-शक्ति का स्वरूपत आत्यतिक नाश ऐसा शान्ति का शून्यात्मक स्वरूप नही है। वह तो अनन्तात्मक है। आकाश को शून्य की सज्ञा है, फिर भी वह अनन्त है। उसी प्रकार से शान्ति को निवृत्ति नाम मिलता हो फिर भी इस निवृत्ति मे अनन्त प्रवृत्ति की प्रेरणा है, इसलिए उसके अनुष्ठान से कर्तृत्व-शून्यता प्राप्त नही होती। कृतकृत्यता का अनुभव होता है।

४

शान्ति ही चूकि ॐकार की उपासना का साधन, स्वरूप और साध्य है, इसलिए वह ऋषियो के सारे तत्त्व-ज्ञान का केन्द्र है। जिस प्रकार पहिये की गडारी मे आरे जमाये हुए रहते है, उसी प्रकार से ऋषि के सारे तात्त्विक विचार इस शान्ति के आस-पास इकट्ठे हुए है। आत्मा का वर्णन भी ऋषि शान्ति की ही भाषा मे करते है। बाष्कली ने जब बाध्व से आत्म-स्वरूप के बारे मे प्रश्न पूछा तो उसने पहले मौन से ही उसका उत्तर दिया। लेकिन उस मौन व्याख्यान को वह समझ

नही सका, इसलिए आखिर 'उपशान्तोऽयमात्मा'—आत्मा शान्त है—यह सूत्र कहकर वह अलग हो गया। गीता मे भी 'नाय हन्ति'—आत्मा मरता नही, 'न हन्यते'—न मारा जाता है, और न 'घातयति'—न घात करवाता है, इस प्रकार से आत्मा की त्रिविध शान्ति का वर्णन किया गया है। जुल्म करनेवाला, जुल्म के वश होनेवाला और जुल्म करवानेवाला तीनो शान्ति-व्रत के शत्रु है। काम जुल्म करवाता है, क्रोध जुल्म करता है और लोभ जुल्म के वश होता है—ऐसी स्थिति होने के कारण गीता ने इन्हे नर्क के तीन किले माना है (गी १६-२१)। इन तीन किलो को जमीदोज किये बिना शान्ति का साम्राज्य स्थापित नही हो सकता। इन किलो पर जो तीन तोपें दागनी होती है उनकी जानकारी उपनिषत्कारो ने एक मनोरजक आख्यायिका मे दी है

"प्रजापति की देवता, मनुष्य और असुर ऐसी तीन प्रकार की प्रजा थी। तीनो अपने पिता प्रजापति को गुरु समझकर पिता के घर ही ब्रह्मचर्य से रहे। अध्ययन पूर्ण होने के बाद, देवता प्रजापति के पास जाकर कहने लगे—हमे कोई मत्र दीजिए। प्रजापति बोला, 'द'। फिर प्रजापति ने उनसे पूछा, 'तुम समझे? क्या?' देवता बोले—'समझ गये। दमन कीजिए, यही आपने कहा न?'—'ठीक, तुम सही समझे हो।' उनके बाद मनुष्यो ने प्रजापति से मत्र मागा। प्रजापति ने 'द' मत्र उन्हे भी दिया। 'तुम समझे? क्या?' 'समझ गये? दान करो, यही आपने कहा न?' 'ठीक, तुम सही समझे हो।' आखिर मे असुरो ने मत्र मागा। उन्हे भी वही मत्र मिला—'द'। 'तुम समझे? क्या?' 'समझ गये। दया करो, यह आपने कहा न?' 'ठीक, तुम सही समझे हो।' आज भी मेघ-गर्जना के रूप में दिव्य वाणी इसी त्रिविध मत्र का अनुवाद करती रहती है—'द! द! द!'—दमन करो, दान करो, दया करो। दमन-दान-दया इन तीनो की शिक्षा लेना हरएक का कर्त्तव्य है। शिक्षा और मानस दोनो

शास्त्रो की दृष्टि से यह आख्यायिका मनन-योग्य है। वेदादिको का अर्थ करने की पद्धति भी इस आख्यायिका मे सूचित की गई है। देवता दूसरे सारे उत्तम गुणो से सम्पन्न होते हुए भी आत्मपरीक्षण के द्वारा 'हम कामासक्त है' यह उन्हे दिखाई देने पर, जिस साधन से उनकी कामवृत्ति का समूल नाश किया जा सकेगा, वह इन्द्रिय-दमन का साधन उन्होने 'द' अक्षर से प्राप्त कर लिया। देव चूकि 'भोग-योनि' माने गये है, इसलिए उस योनि मे काम का जोर होना स्वाभाविक है। इसलिए प्रजापति ने भी देवताओ का आत्म-परीक्षण द्वारा निश्चित किया हुआ अर्थ मान्य कर लिया। उसी प्रकार मनुष्यो ने जब आत्म-परीक्षण करके देखा तो उन्हे अपने मे लोभ की प्रधानता दिखाई दी, और इसलिए उन्होने 'द'—कार मे से लोभ को मारनेवाले दान का अर्थ ग्रहण किया, और उसे भी प्रजापति ने स्वीकार किया। उसी प्रकार असुरो को अपने मे क्रोध का प्रावल्य दिखाई दिया। इस क्रोध-वृत्ति को उखाड फेकने के लिए मनन करके उन्होने 'द'—कार मे से दया अर्थ खोज निकाला, और प्रजापति को पहले दो अर्थो जैसा ही वह भी पसन्द आया। मत्र का अर्थ मनन द्वारा खोजना पड़ता है। मत्र का सम्बन्ध मेरे जीवन से है, इस बात को ध्यान मे रखकर, आत्म-निरीक्षण-पूर्वक, या 'अह' से सम्बन्ध रखकर, मुझे मत्र का अर्थ निश्चित करना चाहिए। अकगणित के लाभ-हानि के सवालो से मेरा अपना कोई नफा-नुकसान नही होता, इसलिए जिस 'निरहकार' वृत्ति से मै उन सवालो को हल करता हू, उसी 'निरहकार' वृत्ति से मत्र का अर्थ नही किया जाना चाहिए, बल्कि 'अह'-पूर्वक स्वत को मत्र से बाँधकर, भावना-युक्त मनन के द्वारा आत्म-परीक्षण करके मत्र का अर्थ निश्चित करना होता है, और इस प्रकार निश्चित किया हुआ अर्थ भी मुझतक ही सही होने के कारण, दूसरो पर लादा नही जा सकता। इस प्रकार 'अह'-बद्ध मनन द्वारा निश्चित किये हुए अर्थ कितने ही भिन्न-भिन्न

हो, फिर भी विरोधी नही हो सकते। और ये सारे भिन्न-भिन्न—और सहज ही अविरोधी—अर्थ मत्र को मान्य होकर उनकी कृत्रिम एक-वाक्यता वनाने की आवश्यकता भी नही रहेगी। इस दृष्टि से ॐकार की तीनो मात्राओ के आत्मानुभवपूर्वक भिन्न-भिन्न स्वतत्र अर्थ करने की सभीको समान छूट है। फिर भी काम, क्रोध और लोभ चूकि सभी मनुष्यो में सामान्यत जाति-सुलभ दोष है, इसलिए ॐकार की तीन मात्राओ के (इन्द्रिय-) दमन, दान (अथवा परार्थ-बुद्धि) और दया ये तीन अर्थ स्वीकार करने मे कुछ भी हर्ज नही होना चाहिए। (वृ. भाष्य)। 'अ'-कार से जहा इन्द्रिय-दमन का ग्रीष्म दहकने लगा कि हिसा करवानेवाला काम झुलस जायगा और आत्मा का 'न घातयति' वाला निष्काम स्वरूप प्रकट होगा, 'उ'-कार से दया-वृत्ति का जाडा चमका कि हिसा करने वाला क्रोध ठिठुर जायगा और आत्मा का 'न हन्ति' वाला निर्वैद स्वरूप दिखाई देने लगेगा और 'म्'-कार से दान-बुद्धि की वर्षा जहा शुरू हुई कि हिसा के वश होनेवाला लोभ घुल जायगा और आत्मा को 'न हन्यते' वाले निर्लोभ स्वरूप का अनुभव होगा। दमन, दया और दान, ॐकार की इन तीन मात्राओ की नैष्ठिक उपासना करनेपर, आचार्यों की भाषा मे, हिसा का कर्तृत्त्व, हिसा का कर्मत्त्व और हिसा का हेतु-कर्तृत्त्व (यानी प्रेरकत्व) तीनो उड जायगे और आधी मात्रा से परिपूर्ण 'शान्त आत्मा' प्रतीत होगा। कृत-कारित-अनुमोदित (योगसूत्र २-३४) तीनो हिसाओ से दूर रहकर, निष्काम, निर्वैर, निर्लोभ शान्ति का अनुष्ठान करना ही, चूकि सम्पूर्ण ॐकारोपासना का रहस्य है, इसलिए त्रिविध साधना सूचित करने की दृष्टि से ॐकार का अवतरण करके 'शान्ति' शब्द का त्रिबार घोष किया जाता है। यह त्रिविध शान्ति शान्त आत्मा के या 'शिव' के तीन नेत्र होने के कारण शान्ति के परम उपासक महर्षि वसिष्ठ शान्ति-त्रयात्मक 'त्र्यम्बक' की प्रार्थना ऋग्वेद मे निम्न शब्दो मे करते है .

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टि-वर्धनम् ।
उर्वारुकमिव बन्धनान् मृत्योर् मुक्षीय मामृतात् ॥

"जिसने अपने तीन नेत्रो से काम-क्रोध-लोभ का दहन किया है, उस शान्त तेज की हम उपासना करते है। उसकी कृपा से चूकि जीवन की सारी अपवित्रता धुल जाती है और (सुगधि) आत्मिक पुष्टि प्राप्त होती है, इसलिए अब हमारी इतनी ही अभिलाषा है कि जैसे कोई पका फल अपने डठल से छूटता है, उसी प्रकार हम भी मृत्यु से मुक्त हो, लेकिन इस (शान्ति-समृद्ध) अमृत से कभी भी मुक्त न हो।" यही मत्र यजुर्वेद मे भी लिया गया है। लेकिन उसमे आगे कुछ परिवर्तित,

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धि पति-वेदनम् ।
उर्वारुकमिव बंधनादितो मुक्षीय माऽमुतः ॥

ऐसा दूसरा मत्र दिया गया है। 'मी -इत —यहा से मुक्त हो,—अमुत —वहा से मुक्त न हो', इसमे इत यानी मृत्यु से और 'अमुत' यानी 'अमृत से' उद्दिष्ट अर्थ होने पर भी, चूकि पतिवेदनम् (पति से भेट करवा देने वाला) शब्द से श्लेष निकाला जा सकता है, इसलिए, 'इत.' यानी पितृगृह से और 'अमुत' यानी पतिगृह से, इस प्रकार बाह्य अर्थ का रूपक बनाकर यह मत्र विवाहोपयोगी माना जाता है। चूकि जीव-शिव की भेट एक प्रकार से विवाह ही है, इसलिए सभीको इस विवाह-मत्र का मनन करके, ॐकार रूप त्र्यम्बक के तीनो नेत्रो की (यानी मात्राओ की) त्रिविध शान्ति की किरणे 'हृदय-गुफा' मे प्रवेश करे, ऐसा सतत प्रयत्न करना चाहिए। ॐ शान्ति शान्तिः शान्ति.।

: ३ :

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

१

काम-क्रोध लोभातीत शान्ति ही आत्मा का परम शुद्ध स्वरूप है और इसलिए ॐकारोपासना का उपास्य देवता होने के कारण ॐकार और शान्ति शब्द ऋषियो को पर्याय रूप ही जान पडते है। शिव के हृदय मे विष्णु और विष्णु के हृदय मे शिव— शिवस्य हृदये विष्णुर् विष्णोश् च हृदये शिव —इसी प्रकार ऋषियो को ॐकारोपासना मे शान्ति और शान्ति मे ॐकारोपासना ओतप्रोत दिखाई देती है। ॐकार से जैसे वे शान्ति को अलग नही कर सकते वैसे ही ॐकार की भी शान्ति से अलग कल्पना नही कर सकते। इन दोनो का इतना अव्यभिचारी साहचर्य ऋषियो को अभिप्रेत है। इसका प्रत्यय यजुर्वेद के छत्तीसवे अध्याय मे देखने-योग्य है। यजुर्वेद में कुल चालीस अध्याय है। उनमे छत्तीसवा अध्याय 'शान्ति पाठार्थ' के नाम से प्रसिद्ध है। अतएव उसमें ऋषियो के प्रिय शान्ति-गीत सुनने को मिलेंगे, ऐसा विचार सहज ही होता है। यदि ऋषियो की भावनाओ से परिचय न हो तो ॐकारोपासना के वर्णन की अपेक्षा कोई नही कर सकेगा। और सरसरी तौर से देखने पर इस शान्ति-पाठ के अध्याय मे शान्ति के मधुर आलाप जैसे स्पष्ट सुनाई पडते है उस प्रमाण मे ॐकार का वाणी-रव उतना स्पष्ट नही सुनाई पडता। लेकिन यदि कुछ सूक्ष्मता-पूर्वक श्रवण किया जाय तो ऋषि ॐकार के सुर में ही गा रहा है, यह ध्यान मे आता है। बिलकुल पहले मत्र मे ही .

ऋचं वाचं प्रपद्ये। मनो यजुः प्रपद्ये ।
साम प्राणं प्रपद्ये। चक्षुः श्रोत्रं प्रपद्ये ॥

--मै ऋग्वेद-रूपी वाणी का, यजुर्वेद-रूपी मन का, सामवेद-रूपी प्राण का और चक्षु श्रोत्रो का आश्रय लेता हूं--- कहकर ॐकार की तीनो मात्राओ का अवतरण सूचित किया गया है। 'ऋक्-यजुस्-साम' ये जीवन के मुख्य तत्त्व हैं । इनका अर्थ है ज्ञान, (निष्काम) कर्म और समत्व-बुद्धि (या भक्ति) यह पहले बताया जा चुका है। उसी प्रकार अ=वाक, उ=मन, और म्=प्राण, यह अर्थ भी प्रसिद्ध ही है। 'अ'कार का अर्थ वाक् करते समय वाक् को उपलक्षण मानकर उसीमे इसकी इन्द्रियों का भी समावेश किया जाता है। फिर भी सभी इन्द्रियो के चूकि कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय ऐसे दो विभाग किये जाते है, और वाणी कर्मेन्द्रियो मे गिनी जाती है, इसलिए चक्षु-श्रोत्र का ज्ञानेन्द्रियो का प्रतिनिधि के रूप मे स्वतन्त्र उल्लेख किया गया है। इस मत्र से केनोपनिषद् का पहला मत्र मिलाने योग्य है । वहा भी मन, प्राण और वाक् का, तीन स्वतत्र चरणो मे उल्लेख करके चक्षु-श्रोत्र को चौथे चरण के ओसारे मे जगह दी गई है । लेकिन आगे चलकर उमा की जो आख्यायिका दी गई है, उसमे अग्नि, वायु और इन्द्र इन तीनो का ही उल्लेख है। अत. कहना होता है कि वाक्, मन और प्राण, ये तीन ही मुख्यत विवक्षित है, क्योकि अकार यानी अग्नि, उकार यानी वायु और मकार यानी इन्द्र या आदित्य, यह अर्थ अन्यत्र बताया जा चुका है। और ये अग्नि-वायु-इन्द्र वाक्, मन और प्राण के ही स्वरूप है, ऐसा जान पडता है। उमा की सहायता के बिना ये तीनो देवता यक्ष का स्वरूप नही समझ सके थे। इसका अर्थ यह है कि तीनो मात्राओं से परे रहनेवाली आधी मात्रा जबतक नही मिलती तबतक सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त नही हो सकता। समूचे केनोपनिषद् के पूर्वापर पर्यालोचन के बाद यह दिखाई पडता है कि यह उप-

निषद् ॐकारोपासना के अखण्ड सूत्र मे पिरोया हुआ है। इसलिए केनोपनिषद् मे जैसे ॐकार की दृष्टि से वाङ्-मन-प्राण की विवक्षा है, और उपनिषदो की भाषा मे जिन्हे पंच-प्राण कहते है उन सारी शक्तियो का सग्रह हो, इस हेतु से चक्षु-श्रोत्र का उल्लेख आया है, उसी प्रकार इस शान्ति-पाठ के अध्याय के पहले मत्र की भी स्थिति है। चूकि वाक् शब्द स्त्रीलिंगी, मनस् नपुसकलिगी और प्राण पुल्लिगी है, इसलिए जैसा कौपीतकी मे कहा गया है उस प्रकार से 'वाक्' शब्द से समूची स्त्रीलिंगी सज्ञाओ का, मनस् शब्द से सारी नपुसकलिंगी सज्ञाओ का और प्राण शब्द से और सब पुल्लिगी सज्ञाओ का सग्रह कर (कौ १-७) इन तीन मात्राओ के द्वारा ऋषि ॐकार का विश्वरूप-दर्शन सूचित करना चाहते है।

इस प्रकार पहले मत्र मे ॐकार सुझाकर ऋषि ने दूसरे मत्र मे शान्ति का आह्वान किया है

यन् मे छिद्र चक्षुषो ।
हृदयस्य मनसो वाऽतितृण्णम् ।
वृहस्पतिर् मे तद् दधातु
श नो भवतु भुवनस्य यस्पति ॥

"हमारी इन्द्रियो की अव्याप्त-वृत्ति और मन की अति-व्याप्त वृत्ति बृहस्पति दूर करे ! त्रिभुवनेश्वर की कृपा से हमे शान्ति का शाश्वत स्थान प्राप्त हो।" इस प्रकार से इस मत्र में ऋषि ने बृहस्पति की प्रार्थना की है। यह बृहस्पति यानी विश्व का पति होने की बात यहा बताई गई है और वेदो ने इसीको 'ब्रह्मणस्-पति' या 'गण-पति' सज्ञा दी है। और उद्-गीथ भी यही 'ब्रह्मणस्-पति' और बृहस्-पति ही है, ऐसा दुहेरा स्पष्ट विधान उपनिषदो मे (बृ १-२०-२१) है। इसलिए इस मत्र मे ऋषि शान्ति का पता लगाते समय ॐकार से ही रास्ता पूछते है, इसमे शक नही रहता। अधिकार की अव्याप्त व्याख्या के कारण एक

ओर से, और अतिव्याप्त व्याख्या के कारण दूसरी ओर सें, मनुष्य हिंसा किया करता है। इन दोनो हिंसाओ से परावृत्त हुए बिना शान्ति के दर्शन नही हो सकते, इसलिए भक्त ॐकार से प्रार्थना करता है कि स्वय इन दोनो हिसाओ से स्पर्शित न हो। बाह्य इन्द्रिया अधिकार की अव्याप्त-व्याख्या करती हैं और मन प्राय: अति-व्याप्त व्याख्या करता है। इन्द्रियो की शक्ति मर्यादित होने के कारण उनके साथ मनुष्य का अधिकार किंवा ममता का क्षेत्र बहुत सकुचित, या शास्त्रीय भाषा मे अव्याप्त हो जाता है। ऑखो को बहुत दूरतक दिखाई नही दे सकता, इसलिए 'चक्षुर् वै सत्यम्' की अधूरी कल्पना पर भरोसा कर बैठने पर 'आँख से परे सो दुनिया से परे', ऐसी स्थिति होती है और सम्पूर्ण जगत अह की छोटी-सी जगह मे घिर जाता है, इसलिए परार्थ का दम घुटने लगता है। श्मशान मे बैठकर मै मिष्टान्न नही खा सकता। लेकिन श्मशान को अपने जगत से दूर रखकर विलास कर सकता हू। पशु का चमडा उतारते समय मुझसे देखा नही जाता, लेकिन उस उतारे हुए चमडे के जूते इस्तेमाल करने मे मुझे आपत्ति नही मालूम होती। इतना ही नही, उसके बदले मे मै चमार को अस्पृश्यता का इनाम भी दे सकता हू। यह सब इन्द्रियो की अ-दूरदर्शिता का परिणाम है। इन्द्रिया अखण्ड विश्व का छेदन करके मनुष्य को उसके एक खण्ड या टुकडे का दर्शन कराती है। इसी को ऋषियो ने 'छिद्र' कहा है। इन्द्रियो के बनाये हुए छोटे-से छिद्र या बिल मे रहनेवाले को उस बिल के बाहर की सृष्टि की परवाह नही हो सकती। ऐसी छिद्राभिमान की क्षुद्र वृत्ति के पैदा होने पर स्वार्थ-परार्थ का विरोध खडा होता है, जिससे जीवनार्थ-कलह की शुरूआत होती है। इन्द्रिय-विज्ञान द्वारा भेद की दीवारे खड़ी की जाती हैं और कुटुम्बाभिमान, जात्यभिमान, राष्ट्राभिमान इत्यादि छिद्राभिमान के छोटे-बडे किले तैयार हो जाते हैं और इन किलो का आश्रय लेकर हर कोई दूसरे से विग्रह

शुरू करता है। इन्द्रियो ने पुरुषार्थ की या मनुष्य के अधिकारो की सकुचित, सँकरी, स्वार्थी, अव्याप्त व्याख्या की है। इसलिए लोक-विग्रह के लिए हिसा की प्रवृत्ति होकर शान्ति का लोप होता है। लेकिन अधिकारो की अव्याप्ति मे से जैसे लोक-विग्रहात्मक हिसा प्रवृत्त होती है, वैसे ही अधिकारो की अति-व्याप्ति से लोकसग्रहात्मक हिसा का जन्म होता है। इन्द्रियो की शक्ति मर्यादित होने के कारण जब चर्म-चक्षु लोक-विग्रह की हिसा मे जा गिरता है, तो मन की वृत्ति मर्यादा का उल्लघन (अति-तृणम्) करने की ओर है, इसलिए ज्ञान-चक्षु के लोक-सग्रह की हिसा मे फँस जाने की सभावना बनी रहती है। मन की दौड बहुत होने के कारण इस अप्रतिष्ठित डगमगाती नीव पर जीवन की इमारत खडी करनेवाला मनुष्य परार्थ का लालच रखकर आत्मार्थ या परमार्थ को खो देता है। परमार्थ की ओर ध्यान न देते हुए अहकार को जहा परार्थ-सेवन का नशा चढाने-वाला चस्का लगा कि 'दिये-तले अँधेरे' जैसी स्थिति पैदा होती है, और मनुष्य को दूर का लोक-सग्रह तो दिखने लगता है, लेकिन अपने पैर के नीचे क्या जल रहा है उसका भान नही रहता। सामाजिक सुखो का सशोधन करने में आत्मा की उन्नति का अनुसधान छूट जाता है, और मनुष्य हिसात्मक साधन स्वीकार करने लगता है। "परार्थ-साधना का पवित्र साध्य सिद्ध करने के लिए अपवित्र माने गये साधनो का भी उपयोग कर लेने मे क्या हर्ज है ?"—ये आसुरी तर्क मनुष्य को सूझने लगते है, बल्कि व्यक्ति की दृष्टि से जिनकी गणना दुर्गुणो मे होती है वे सामाजिक दृष्टि से सद्गुण हो सकते है, ऐसे हेत्वाभासात्मक समर्थन खोज-कर मनुष्य आत्मवचना, और उसके द्वारा आत्मनाश, कर लेता है। यह सब अपने अधिकार की मर्यादा न समझकर जहा-तहा मुँह मारने की उन्मत्त वृत्ति का परिणाम है। वेदो मे इस वृत्ति का वर्णन 'सानुको वृक' शब्दो से किया गया है। 'सानु' यानी शिखर या सीग है, इसलिए 'सानुको वृक' का अर्थ है 'जिनके

सीग उगे है ऐसे भेड़िये।' स्वार्थ की दुनिया मे लोक-विग्रहात्मक हिंसा सीग उगे हुए नही रहती और परार्थ के ससार की लोक-सग्रहात्मक हिंसा का समर्थन करनेवाले तत्त्वज्ञान के सीग होते है, इतना ही फर्क है। साराश यह है कि बुद्धि के द्वारा मनुष्य के अधिकार की अति-व्याप्त व्याख्या की जाने के कारण, लोक-सग्रहार्थ हिंसा की प्रवृत्ति होती है और शान्ति का नाश होता है। अ-दूरदर्शी स्व-सुख-वाद परार्थ की हिसा करता है। दूरदर्शी जन-सुख-वाद परमार्थ की हिसा करता है। इन्द्रियो के सेवक लोक-विग्रहात्मक 'नगी' हिसा करते है और बुद्धि के उपासक लोक-सग्रहात्मक 'दिगम्बर' हिसा करते है, क्योकि उनकी हिंसा अपने आसपास समर्थन का दिग्-वस्त्र लपेटे रहती है। इन्द्रियों का 'प्रत्यक्ष' और मन का 'अनुमान' दोनो हिंसक सिद्ध हो जाने के कारण आखिर ऋषियो ने निश्चित किया है कि 'शब्द'-ब्रह्म या (बृहस्-पतिरूप) ॐकार की शरण गये बिना शान्ति के ध्रुवतत्त्व का पता लगना असम्भव है।

उपक्रम के इन दो मत्रो ॐकार और शान्ति के बीच जो आत्मीयता का सम्बन्ध प्रकट होता है, उसकी उपसहार के मत्रों से तो और भी दृढ प्रतीति होती है। पहले मत्र मे परोक्ष-रीति से ॐकार का सूत-उवाच करने के बाद दूसरे मत्र मे इस ॐकार के सिवा शान्ति के लिए दूसरी जगह ही नही रहती, यह दिखाया गया है। प्रत्यक्ष और अनुमान दोनो प्रमाणो के हार जाने के कारण, मजबूरन शब्द-प्रमाण की शरण लेनी पडती है, इसलिए आगे ऋग्वेद की ऋचाओ मे प्राय. शान्ति की अर्चना की गई है। और आखिर उपसहार मे,

> द्यौः शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिः पृथिवी शान्तिः ।
> विश्वे देवाः शान्तिर् ब्रह्म शान्तिः सर्वं शान्तिः ॥
> शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि ॥

इस प्रकार ॐकार और शान्ति का परस्पर अनन्य-गति-

कत्व प्रकाशित करनेवाला मधुर मत्र दिया हुआ है। ऋपियो के शान्त दर्शन का सारा रहस्य इस सूत्र रूप मत्र मे सुन्दर रीति से गुथा हुआ है और इसीका भावानुवाद अथर्ववेद मे भी किया है (अथर्ववेद १९-९-१४)। पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक ये ॐकार की तीन मात्राए कल्पित की गई है। इन्ही को 'भु-भुव-सुव' नाम दिये गये है और ये सज्ञाएँ ही 'व्याहृति' के नाम से प्रसिद्ध है। इन व्याहृतियो का स्पष्ट उच्चारण प्रस्तुत शान्ति-पाठ के तीसरे मत्र में दिया गया है और 'द्यौ शान्ति, अन्तरिक्ष शान्ति, पृथिवी शान्ति' के द्वारा दिखाया गया है कि ये तीनो व्याहृतियाँ सिद्धो के आनुभविक ज्ञान के अनुसार शान्तिमय है और साधको के भावनात्मक ध्यान के अनुसार 'शान्तिमय हो'। व्याहृति (वि+आ+हृति) शब्द का अक्षरश अर्थ 'उच्चारण' या 'जप' है। बाइबल के पुराने करार मे सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए जैसे कहा है कि "गाड सेड, 'लेट देअर बी लाइट' एड देअर वाज लाइट्"--ईश्वर के 'प्र' कहते ही प्रकाश हो गया--उसी प्रकार श्रुति मे भी कहा गया है कि "स भूरिति व्याहरत्, स भूमिसृजत"--प्रजापति ने जहा 'भू' कहा कि 'भूमि' उत्पन्न हुई। प्रजापति को विश्व-कर्तृत्त्व का स्फुरण और साधन भी यदि 'भूर्भुव सुव' इन तीन व्याहृतियो के सकृदुच्चारण से मिले हो तो भी हममे कर्तृत्त्व का आवेश उत्पन्न करने के लिए इन व्याहृतियो की असकृदावृत्ति या जप करना आवश्यक रहता है। इन तीन व्याहृतियो के मिलने पर ॐकार की तीन मात्राओ के योग का अर्थ निष्पन्न होता है। लेकिन इस योग के परे रहनेवाली ॐकार की आधी मात्रा शेष रहती ही है। इस आधी मात्रा का सग्रह करने के लिए 'महस्' नाम की चौथी व्याहृति गूढ-तत्त्व-सशोधक 'माहाचमस्य' ऋषियो ने खोज निकाली है और इस अपूर्व और अद्भुत खोज का उपनिषदो मे कौतुक-पूर्वक वर्णन किया गया है। इन ऋपियो ने 'महस्' रूप महत्त्वपूर्ण व्याहृति का या आधी मात्रा

के पीछे पडे रहकर योगीजन जिस महान् चमस् मे से (प्याले मे से) शान्ति-समृद्ध अमृत का आकण्ठ पान करते है, उस चमस् को खोज निकाला, इसलिए उन्हे 'माहाचमस्य' की पदवी मिली है (तै. १-५)। भूमि इस चमस् का पेदा, अतरिक्ष भीतरी भाग और द्युलोक मुँह है। इसलिए एक जगह 'तस्मिन विश्वमिद श्रितम्'--इस प्याले मे सारे विश्व का समावेश हुआ है--ऐसा वर्णन है (छा. ३-१५-१), तो दूसरी ओर 'अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्न'--इस चमस् का मुँह नीचे और पेदा ऊपर है--इस प्रकार 'ऊर्ध्वमूलमध शाखम्' के ढग का रूपक बनाकर सप्तर्षि इसी महान् चमस् मे का रस सेवन करते है। ऐसी इसकी महिमा गाई गई है (बृ. २-२-३)। भूमि, अन्तरिक्ष और द्युलोक को क्रमश इस विश्वरूप चमस का पेदा, मध्य और ऊपरी छोर, या भूमिति की भाषा मे लम्बाई, चौडाई और मोटाई मान लेने पर भी, इन तीनो परिमाणो का योग करके विश्व को अखण्ड या सलग्न स्वरूप देनेवाले चौथे परिमाण (फोर्थ डाइ-मेन्शन) को आधुनिक तत्वज्ञो को मानना पडा है। इसमे चतुर्थ या तुरीय परिमाण को ही माहाचमस्य ऋषियो ने 'महस्' नाम दिया है और यही ॐकार की सर्व-पूरक, सर्वातर्यामी, सर्व-सहिष्णु, सर्व-सवादी अर्ध-मात्रा है। तीनो व्याहृतियाँ या तीनो परिमाण इस 'महस्' परिमाण का अग है और इस महस्-तत्त्व के कारण ही सारे परिमाणो को महत्त्व प्राप्त हुआ है। तीन व्याहृतियो का जिस तरह का अर्थ किया जायगा, उसके अनुसार ही चौथी व्याहृति का अर्थ भी बदला हुआ दिखाई देगा। उदाहरणार्थ, 'भूरिति वै प्राण। भुव इत्यपान। सुवरिति व्यान।' ऐसा अर्थ लेने पर, प्राण-अपान-व्यान इन तीनो को धारण करने वाला, 'अन्न' महस् का अर्थ होगा। या "भूरिति वा ऋच। भुव इति सामानि। सुवरिति यजूषि।" ऐसी भावना करने पर "ऋक्-साम-यजू' को इकट्ठा करनेवाला 'ब्रह्म' (यानी उपनिषद्) 'महस्' का स्वरूप होगा। अथवा भू=तमोगुण, भुव=रजो-

गुण और सुव.=सतोगुण की कल्पना करने पर महस्=निस्त्रै-गुण्य वृत्ति आयगी। लेकिन इस प्रकार चाहे जितने भिन्न-भिन्न स्वरूप वदले, फिर भी उन सवमे अन्त तक एक अखण्ड तन्तु दिखाई देता है। इस सौभाग्य-तन्तु को ही ऋपियो ने 'शान्ति' नाम दिया है। इसलिए "द्यौ शान्तिरन्तरिक्ष शान्ति, पृथिवी शान्ति" इस मत्र-वर्ण मे यह स्पप्ट भाव दर्शाया है कि आप "तीनो मात्राओ का कैसा ही अर्थ करे, सव अर्थों का चूकि शान्ति ही अन्तिम फलित है, इसलिए यही सव वेदार्थ का सग्रहात्मक सार है।" इसलिए 'ॐ शान्ति शान्ति, शान्ति' इस सकल्प मे शान्ति के तीन वार उच्चारण का अभिप्राय है, 'अकार शान्ति उकार शान्तिर्, मकार शान्ति।' अकार के भिन्न-भिन्न पर्याय इसमे मान लिये गये है। उदाहरणार्थ "वाक् शान्तिर्, मन शान्ति, प्राण शान्ति," इत्यादि सारे वाक्यो का समावेश इस महा-वाक्य मे समझना है।

२

यहातक शान्ति का विस्तृत 'विवेचन' करने के वाद शान्ति क्या है, यह समझने की बुद्धि की तैयारी हो जाने के कारण, आखिर ऋपियो ने शान्ति की सक्षेप मे किन्तु असदिग्ध 'व्याख्या' कर 'सा मा शान्तिरेधि'—यह अद्वैतात्मक शान्ति मुझे मिले—ॐकार की आधी मात्रा से यही एक नम्र प्रार्थना की है। "शान्ति-रेव शान्ति"—शान्ति यानी शान्ति ही—यह ऋषियो की सीधी-सादी और सहज व्याख्या है। लेकिन विस्तृत विवेचन का पहाड खोदकर अन्त मे यदि ऐसी आसान व्याख्या का चूहा ही निका-लना था तो इतने-से के लिए ऋषियो की ही क्या आवश्यकता थी? छोटे बच्चे को पूछे कि तेरी मा का नाम क्या है? और वह तुरन्त उत्तर दे 'मा का नाम मा है'। ऐसी वचपन-भरी लघु-व्याख्या दीर्घ विवेचन के बाद बताना क्या अजीब नही है? 'प्रस्तर का मतलब है पत्थर' ऐसी व्याख्या करनेवाले ने आखिर

इतना खयाल तो रखा कि चूकि वह प्रस्तर की व्याख्या कर रहा है, इसलिए उसमे प्रस्तर शब्द दुबारा लाना उचित नही। लेकिन यह बात भी इस व्याख्या मे नही दिखाई देती, बल्कि 'जिसमे घटत्व है वह घट' इस प्रकार की न्याय-शास्त्र की व्याख्या-ओ को भी शान्ति की यह आर्ष व्याख्या मात देनेवाली है, इसमे शक नही। न्याय-शास्त्र का दोष वैसा ही है जैसे बालक बीज-गणित के सवाल हल करते समय कभी-कभी 'क' के बराबर 'क' दिखाते है। लेकिन बालक तो 'क' की कीमत के बराबर 'क' दिखाते है, और यह ऋषि तो 'क' की कीमत ही 'क' कहता है। इस तरह का आक्रमण यदि कोई करे, तब भी ऋषि उसे क्षमा ही करेगे। ऋषियो की भाषा छोटे-से बालक-सी है, यह बात गलत नही है, क्योकि 'पाडित्य निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्'—पाण्डित्य के पीछे न पडकर बालवृत्ति से रहना—तो ऋषियों का कुल-व्रत ही है। लेकिन ऋषियो का कहना यह नही है कि शान्ति यानी शान्ति बल्कि वे उसमे 'ही' भी जोडते है। इसपर थोडा ध्यान देना जरूरी है। इस 'ही' ने क्या फर्क कर दिया है? रात के समय आकाश के तारे देखते हुए मै 'यह ध्रुव' कह कर एक तारा बतलाता हू। तब यदि कोई कहता है कि नही, वह ध्रुव नही, ध्रुव दूसरा है, तब मै 'ही' का उपयोग करके फिर कहता हू कि 'ध्रुव यही है।' इसलिए सामान्य माने जाने वाले किंतु अन्याय के द्वारा यावज्-जीवन अर्थ-सचय करनेवाले स्वार्थ-लुब्ध पुरुष के प्रति कहे गये भगवद्-गीता के इस वचन मे कि वह सारे समाज मे प्रतिष्ठित शिष्टतापूर्वक सिर उठाकर घूमता हो, और लोग भी उसे 'सम्मान्य' कहकर सबोधित करते हो, फिर भी परमेश्वर के दरवार मे चूकि उसे सिर ऊँचा करने को जगह नही है, इसलिए वह चोर ही है—'स्तेन एव स'—यद्यपि चोर नही माना जाता। जिस उद्देश्य से 'ही' आया हुआ है, उसी उद्देश्य से, यानी अन्य-पक्ष की व्यावृत्ति करने के लिए, शान्ति की व्याख्या मे यह 'ही' साभिप्राय आया है। चूकि

'शान्ति यानी शान्ति नही' यह पक्षोपन्यास प्रचलित है, इसलिए इसका निषेध करने के लिए 'ही' का उपयोग करके 'शान्ति यानी शान्ति' 'ही' ऐसी, अन्यथा निरर्थक जान पडनेवाली भाषा ऋषियो को मजबूरन इस्तेमाल करनी पडी है। शान्ति की व्यवस्थित व्याख्या करने के प्रयत्न मे ही हिंसा होने लगती है। कोमल पुष्पो की माला गथने के प्रयत्न मे जैसे वे पुष्प कुम्हला जाते है, शान्ति की वैसी ही स्थिति होने के कारण उसे व्याख्या की खीचा-खीची बरदाश्त नही होती। ऐसी स्थिति मे शान्ति की व्याख्या न करना ही उसकी उत्तम व्याख्या है। अत 'शान्ति यानी शान्ति' कहकर ऋषियो का मौन रह जाना ही इष्ट था। लेकिन शान्ति की अशान्त व्याख्या करनेवाला पक्ष समाज मे लोकप्रिय होने के कारण, हम रास्ता न भूल जाय, इसलिए उस रूढ व्याख्या का निषेध करने के लिए ऋषियो ने जो 'ही' की उदारता दिखलाई है वह हमारा सौभाग्य ही है।

इस पक्ष की राय मे "अनासक्ति और शान्ति के बीच फर्क न समझने के कारण शान्ति का भ्रामक तत्त्वज्ञान उत्पन्न हुआ है। अनासक्ति के दर्शन पर शान्ति की अमरबेल छा गई है। सच्ची शान्ति निर्भय होनी चाहिए। निर्भय-वृत्ति या अनासक्ति ही धर्म का रहस्य है, कर्म के कुरुक्षेत्र मे से भाग निकलने वाली शान्ति नही। 'सत्यानृते मिथुनीकृत्य प्रवर्तितोऽय लोक-व्यवहार'— सत्य और अनृत के मिश्रण से लोक-व्यवहार चल रहा है—यह अनुभव-सिद्ध सत्य है। इसलिए मै सत्य के ही मार्ग से जाऊगा, शान्तिमय साधनो का ही उपयोग करूगा, इस तरह का आग्रह-भरा लक्ष्य ग्रहण करनेवाले का आग्रह ही शेष रहनेवाला है। इसके अलावा 'सत्' यानी क्या, और 'असत्' यानी क्या, या 'कि कर्म किमकर्म' ये प्रश्न नीति-शास्त्र निश्चित रूप मे हल नही कर सकता। इसलिए बाह्य पाप-पुण्य के झगडे मे न पडकर, प्रसगानुरूप जो भी पाप-पुण्य हो, या जान-बूझकर करने पडे, उनमे भी वृत्ति को अलिप्त रखना ही शान्ति की सच्ची या

तात्त्विक व्याख्या है । सब्जी के समान मनुष्यों को चीरना-काटना आना चाहिए, और प्याज काटते समय आँखो मे आने वाले भौतिक या शारीरिक आँसू भी मनुष्यो को काटते समय न आने चाहिए । इस तरह कर्म करने की खूबी अथवा कुशलता को 'योग' कहते है और योग यानी अलिप्त-वृत्ति या अनासक्ति उसका आश्रय लेकर सारे कर्म—चाहे वे बाह्य दृष्टि से शान्तिमय हो या अशान्तिमय हो—कर सकना चाहिए ।

'यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर् यस्य न लिप्यते ।
हत्वाऽपि स इमाल् लोकान् न हन्ति न निवध्यते ॥'

"जिसकी बुद्धि निरहकार और निर्लेप होगी, वह यदि इन सब लोगो का वध करे, फिर भी उसने दरअसल वध किया ही नही और इसलिए उसे उसका कुछ भी (पाप) नही लगता"—गीता के इस वचन मे शान्ति का परम-रहस्य प्रतिपादित किया गया है और कौषीतकी उपनिषद् मे भी इन्द्र ने प्रतर्दन से स्पष्ट कहा है कि जो मुझे पहचानता है उसकी किसी भी तरह के कर्म से हानि नही होती । वह चाहे मा को मारे, बाप को मारे, उसके हाथ से चोरी हो, भ्रूण-हत्या हो, उसे पाप ही नही लगता—'नास्य पापम्' । इस प्रकार से शान्ति का अर्थ 'अशान्ति को पचाने की शक्ति' या 'निर्भय-वृत्ति' ही किया जाना चाहिए।" इस पक्ष की दलील सक्षेप मे यो कही जा सकती है ।

३

व्यावहारिको का व्यवहार जैसे सत्यानृत के मिश्रण से चलता है, वैसे ही इस पक्ष मे भी शान्ति और अशान्ति का मोहक मिश्रण हो गया है । इसमे मुख्य दोष विशेषत तत्त्व की अपेक्षा विनियोग का है, शास्त्रीय तत्त्वो के अशास्त्रीय विनियोग का है । शास्त्रीय तत्त्वों का अशास्त्रीय विनियोग अ-युक्त है । शान्ति को निर्भय होना ही चाहिए, यह कथन उपनिषदो को भी मान्य

सो गिरगा' इस न्याय से कभी) नीचे गिरे, फिर भी हमारी निर्भय-वृत्ति न ढले। (परिचित) मित्र से, और (अपरिचित) अमित्र से हमे अभय मिले। बीती हुई बातो का ज्ञान अथवा भूल से होनेवाली बातो का अज्ञान, हमे भयभीत न करे। (निवृत्ति की) रात और (प्रवृत्ति का) दिन हमे भयानक न लगे। सबकी सामुदायिक इच्छाशक्ति हमारी सहायता करे।" यह प्रार्थना उचित है। लेकिन यदि हमारी इच्छाशक्ति समुदाय पर प्रेम करती होगी, तभी हम सामुदायिक इच्छाशक्ति से प्रेम की अपेक्षा कर सकते है। इसलिए 'सर्वा आशा, मम मित्र भवन्तु' यह अन्वय दूसरो पर लागू करने से पहले 'सर्वा आशा मम, मित्रं भवन्तु' ऐसा अन्वय स्वय पर लागू करना चाहिए। इसलिए यजुर्वेद मे 'मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्'—सब भूत मेरी ओर मित्र-दृष्टि से देखे—ऐसा दावा करनेवाली प्रार्थना करके, ऋषि ने तुरन्त 'मित्रस्याह चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे'—मै सब भूतो की ओर मित्र-दृष्टि से देखूँ—ऐसी कर्त्तव्यभरी उत्तरदायित्वपूर्ण प्रार्थना की है। और बाइबिल के 'दुर्गोपनिषद्' (सरमन् आन् दि माउन्ट) मे "हे परमेश्वर! जिस प्रकार मै दूसरो को क्षमा करता हूं, उसी प्रकार तू मुझे क्षमा कर" आदर्श प्रार्थना का ऐसा नमूना दिया है। 'नाय हन्ति न हन्यते'—आत्मा न मारता है न मारा जाता है—वचन मे हेतु-हेतुमद्भाव पहले से मान लिया गया है। आत्मा मारता नही, और इसलिए मारा नही जाता—इतना ही इसका अर्थ है। गार्गी वाचक्नवी के प्रश्न का उत्तर देते हुए याज्ञवल्क्य ने ॐकार की अविरोधवृत्ति का वर्णन "ॐकार के शासन मे, एक ही श्वेत पर्वत मे से निकली हुई नदियो मे, अपनी-अपनी स्वतत्र इच्छा के अनुसार कोई पूर्व दिशा की ओर, तो कोई पश्चिम-दिशा की ओर बहती है", कार "यह ॐकार रूप अविनाशी अ-क्षर किसीका भी विनाश नही करता", और न कोई इसका विनाश करता है—'न तद् अश्नाति किचन। न तद् अश्नाति कश्चन'—

इस प्रकार ॐकार का बृहत् अभ्यास या शान्तिमयत्व दिखाया है (बृ ३-८-९)। उसमे भी तद् का 'उल्लिंग' मानकर चलते है। 'मेरा भय' का अर्थ 'मुझे जो दूसरों का भय लगता है' यह मानें तो 'मेरा' कर्मणि षष्ठी होता है, और 'मैं जो दूसरों को भय देता हूं' यह अर्थ करें तो वह 'कर्तरि-षष्ठी' होगा। मेरे पास भय-कर्तृत्व होता है, इसलिए मुझे भय-कर्मत्व सहना पड़ता है। ऐसी स्थिति मे, जैसे मनु ने कहा है, 'अपने निर्भय होने का एक ही साधन है और वह है अविरोधात्मक शान्ति से दूसरों को अभय देना (मनु. ६-४०) उसके अलावा शान्ति जैसे निर्भयता का साधन है वैसे ही निर्भयता का फल भी है, क्योंकि जो समाज को भय नही देता और इसलिए समाज का भी जिसे भय नही लगता (गी १२-१५) उस महापुरुष के जीवन मे अशान्ति की तरंगे भला क्यो उत्पन्न होने लगी ?

उस शान्ति को स्वाभाविक ही कर्म से डरने का कोई भी कारण नही है। यही नही, बल्कि 'कृत्स्न-कर्म-कृत्' या अखंड कर्म करने वाला (गी ४-१८)। विश्व-कर्मा महान् आत्मा ही नैष्ठिक शांति प्राप्त कर सकता है। 'फल-त्याग की युक्ति' उसे सधी हुई है (गी० ५-१२)। गीता के समान उपनिषदो का भी यही स्पष्ट मत है, यह पहले ही बताया जा चुका है। यह विश्वकर्मा (ऋग्वेद १०-८१-८२) ऋग्वेद के दो स्वतंत्र सूक्तो का विषय रह चुका है, और ब्रह्म-विषयक परम-रमणीय सूक्तो मे ऋषियो के अत्युच्च विचार स्पष्ट भाषा मे प्रकट हुए है। यजुर्वेद के सत्रहवे अध्याय मे ये दोनो सूक्त ज्यो-के-त्यो आ गये है। उनपर विस्तृत विचार तो किसी स्वतंत्र लेख मे ही किया जा सकता है, इसलिए यहा बानगी के तौर पर उनमे का एक मंत्र देखने जैसा है। यह मंत्र यजुर्वेद मे दो बार आया है और वह कर्मयोग, शान्ति और ॐकारोपासना के 'स्नेह-सम्बन्ध' समझने की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है

वाचस्पतिं विश्व-कर्माणमूतये ।
मनोजुवं वाजे अद्या हुवेम ।
स नो विश्वानि हवनानि जोषत् ।
विश्व-शंभूरवसे साधु-कर्मा ॥

"हमारी साधना का वेग से (वाजे) विकास (ऊतये) हो, इसलिए हम मनोवेग-सम्पन्न विश्व-कर्म-योगी वाचस्पति की प्रार्थना कर रहे है। जगद्रक्षण के लिए (अवसे) इसका अवतार हुआ है, इसलिए सभी की पुकार का (हवनानि) प्रत्युत्तर देना इसका कर्त्तव्य है। यह सर्व-शान्ति का सागर (श-भू) और सत्कर्मो का आगर है"—इसमे वाचस्पति (यानी बृहस्पति) और 'श-भू' इन शब्दो को देखते हुए ॐकार का अनुसन्धान स्पष्ट है। शान्ति के समुद्र पर सत्कर्म की सौम्य लहरे सदैव बहती रहती है, यह वैदिक ऋषियो का अनुभव है, इसलिए उन्होने 'शान्त आत्मा' (श-भू) को विश्वकर्मा का ही प्रकट रूप माना है, और सभी उपनिषदो का यही अभिप्राय है। 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् शत समा'—कर्म करते हुए ही सौ वर्ष जीने की इच्छा करनी चाहिए—ऐसा स्पष्ट विधान ईशावास्योपनिषद् मे है और 'कर्मेति प्रतिष्ठा' —कर्म उपासना की प्रतिष्ठा (या नीव) है—यह केन मे कहा गया है। कठोपनिषद् मे मृत्यु ने नचिकेता को 'त्रिकर्मकृत् तरति जन्म-मृत्यु'—(दम-दान-दयात्मक) त्रिविध कर्म करनेवाला जन्म-मृत्यु को पार कर जाता है—ऐसा आश्वासन दिया है। मुण्डक शब्द का अर्थ सन्यासी होता है, इसलिए मुण्डकोपनिषद् सन्यास का उपनिषद् समझा जाता है और उसमे सन्यास-योग का प्रत्यक्ष उल्लेख भी है। लेकिन सन्यास-योग के बारे मे ऋषियो की हम-जैसी विपरीत कल्पना न होने के कारण 'क्रियावान् एष ब्रह्मविदा वरिष्ठ'—सारे वेदवेत्ताओं मे कर्म-योगी श्रेष्ठ है—यही इस उपनिषद् का भी सिद्धात है। छान्दो-ग्य मे 'यदा वै करोति अथ निस्तिष्ठति' करके देखे बिना निष्ठा

उत्पन्न नही होती। यो कर्म का अनुभव-सिद्ध महत्त्व वताया गया है। आशय, नैष्ठिक शान्ति होने के वाद, या प्राप्त करने के लिए भी, कर्म आवश्यक है ऐसा ही उपनिपदो का भी अभिप्राय है, इसलिए विश्व-कर्मा ऋषि कर्म-शून्य शान्ति की कल्पना कर ही नही सकते।

लेकिन शान्ति को कर्म का डर न लगता हो तो अर्ध-नैतिक पक्ष को इससे सतोप नही होता। उनके मतानुसार शान्ति को कु-कर्म का भी यानी कु-कर्म करने का भी भय नही लगना चाहिए। शान्ति को यदि कुकर्म करने का डर लगे तो उसकी निर्भयता कहा रही ? यो इस पक्ष की साम्प्रदायिक दलील है। ऐसी अ-रसिक दलीलो का समाधान करना दरअसल कठिन तो है ही, लेकिन 'शान्ति को पाप का डर लगता है' यह कहना विलकुल विपर्यासात्मक है। वस्तुस्थिति यह है कि चूकि पाप को शान्ति का डर लगता है, इसलिए वह शान्ति के सामने खडा ही नही रह सकता। पाप-कर्म करके भी वृत्ति अलिप्त रखना,यही शान्ति का रहस्य है, यह कहने मे वदतो-व्याघात (काट्राडिक्शन इन टर्म्स) है। पापाचरण से वृत्ति का शान्त रहना सभव नही, और यदि सभव हो भी तो अन्तर-विवेक का गला घोटकर ही। इस निर्लज्ज वृत्ति मे और अलिप्तता मे अन्तर है। वैदिक ऋषि वृहस्पति की यानी ॐकार की स्तुति करते हुए "सुनीतिभिर्नयासि त्रायसे जनम् ॥" (ऋ २-२३-४)—तुम लोगो को सुनीति का मार्ग दिखाकर सवकी रक्षा करते हो—कहते है। 'ऋजुनीती नो नयतु' (ऋ. १–९०–१) ईश्वर हमे ऋजुनीति की ओर झुकावे, ऐसी प्रार्थना वेदो में अनेक वार मिलती है। सत्य का सीधा रास्ता छोडकर उन्नति कर लेने की कल्पना ऋषियो को मालूम नही थी। इसलिए, 'अग्ने नय सुपथा राये'—हे अग्नि, हमे सुख-प्राप्ति का साधु-मार्ग वता—यह अगस्त्य ऋषि की प्रार्थना ऋग्वेद से (१-१८९-१) यजुर्वेद मे, और यजुर्वेद से (यजु, ४०-१६) ईशावास्योपनिषद्

मे अक्षरश उतर आई है, और 'सत्यमायतनम्' (केन) सत्य ही उपासना का घर है, 'नाविरतो दुश्चरितात्' (कठ)—दुराचरण से दूर गये बिना आत्म-प्राप्ति की आशा व्यर्थ है, 'न येषु जिह्ममनृत न माया' (प्रश्न)—जिनमे टेढापन, असत्य या कपट होगा उनके लिए ब्रह्म-लोक का द्वार बन्द है, 'सत्यमेव जयति नानृतम्' (मुण्डक) सत्य की ही विजय होगी, अनृत की नही, 'यान्यनवद्यानि कर्माणि । तानि सेवितव्यानि । नो इतराणि' (तैत्तिरीय)—जो कर्म निर्दोष हो उन्हीका आचरण करना चाहिए, दूसरो का नही करना चाहिए । 'अथ यत्तपो दानमार्जवमहिसा सत्यवचनमिति ता अस्य दक्षिणा' (छादोग्य)—सरलता, अहिसा, सत्य, तप, दान इस जीवित-यज्ञ की दक्षिणा ही है, 'विपापो विरजो भवति' (बृह.)—आत्मज्ञान से मनुष्य निष्पाप, निर्मल होता है,—इत्यादि वचनो के द्वारा समूचे उपनिषदो मे असत्कर्मो का पारमार्थिक शान्ति से स्पष्ट विरोध दिखाया है । 'कृत्स्न' कर्म-कृत् या 'विश्व'-कर्मा शब्द का अर्थ 'सब कर्म' करनेवाला होता हो, तो भी 'सब' शब्द को व्यर्थ तानकर उसमे पाप-कर्म का भी समावेश न हो, इसलिए विश्व-कर्मा के सूक्त मे ऋषियो ने साधु-कर्मा विशेषण साभिप्राय योजित किया है ।

४

भगवद्-गीता मे कहा गया ब्रह्मनिर्देश 'ॐ तत्सत्' भी कर्मयोग का स्वरूप समझने की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और मननीय है । यह ब्रह्म-निर्देश गीता के सत्रहवे अध्याय के उपसहार मे है । इस अध्याय मे श्रद्धा के और तदनुसार यज्ञ-दान-तप इत्यादि वैदिक और आहारादि लौकिक कर्मो के सात्त्विक, राजस और तामस ऐसे तीन विभाग किये गए है और उनमे से राजस और तामस कर्मो का स्वरूपत त्याग सूचित किया गया

है। राजस और तामस कर्म कर अलिप्त रहना सभव नही, और यदि किसी पुश्तैनी पक्के ठग के लिए सभव हो तो भी शास्त्र-कारो का 'स्थितप्रज्ञ' वह पक्का ठग नही है। 'निष्काम व्यभि-चार, निर्वैर खून, निर्लोभ डकैतियाँ' मिल्टन के शैतान के सूत्र हो सकते है, देवदूतो के नही। इसे ऋषियो ने 'असुराणा उप-निषद्'—आसुरी तत्त्वज्ञान—नाम दिया है (छा. ८-८-५) और इस आसुरोपनिषद् का दिग्दर्शन उन्होने 'प्रेतस्य शरीर भिक्षया वसनेन अलकारेणेति सस्कुर्वन्ति'—प्रेत का शरीर मानो भीख मे मागे हुए चिथडो को अलकार समझकर सजाते है, इस एक वाक्य से ही समाप्त कर दिया है। लेकिन खूनी तत्त्वज्ञान का प्रेत अलिप्तता के आवरण के नीचे कितना ही सजाया जाय, फिर भी प्रेत तो प्रेत ही रहेगा। 'यू कॅनॉट चीट अल्जिब्रा'—बीज-गणित को धोखा नही दिया जा सकता—इस वाक्य का सत्य बीजगणित की अपेक्षा धर्म पर अधिक लागू होता है। धर्म की वचना करने पर आत्म-वचना ही पल्ले पडनेवाली है। इस-लिए राजस-तामस कर्म कर अलिप्त रहने के 'अव्यापारेषु व्या-पार' में न पडकर, ऐसे असत् (कामप्रेरित अथवा काम्य) कर्मों के लिए 'मूलोत्पाटक' मापदण्ड स्वीकार कर उनका आमूल त्याग करना ही योग्य है (गी. १८-२)। शेष सात्त्विक कर्म (सत्) ईश्वरार्पणपूर्वक (ॐ), निष्काम अथवा अलिप्त वृत्ति से (तत्) किये जाने चाहिए। इस प्रकार से 'ॐ तत्सत्' निर्देश से भगवद्गीता ने सत्कर्मयोग के तत्त्व का प्रतिपादन किया है और तदनुसार 'सत्कर्मयोगे वय घालवावे'—सत्कर्म-योग मे उम्र बितानी चाहिए—यही सन्तो की इच्छा रही है। इस ब्रह्म-निर्देश मे से यह अर्थ भगवद्-गीता ने किस तरह निष्पन्न किया, इसका विवेचन पहले अध्याय के शुरू मे ही किया गया है।

'लेकिन पाप करके भी अलिप्त', इस भाषा का अर्थ जैसा चित्त मे समाता है, वैसा पुण्य करके भी अलिप्त भाषा का कोई विशेष

अर्थ ही नही जान पडता। राजस-तामस कर्मों का स्वरूपत सन्यास करने पर जो कुछ शेष रहता है वह सात्विक कर्म ही है। इसलिए अलिप्तता या निष्काम वृत्ति की भाषा ही झूठी जान पडती है। ऐसी स्थिति मे 'तत्' यानी अलिप्त यह विशेषण सत्-कर्मो मे जोड़ने से क्या मतलब है? 'खून करके फरार' इस भाषा का अर्थ हम समझ सकते है। लेकिन 'दया करके फरार' का क्या अर्थ है? यह प्रश्न व्यावहारिको की दृष्टि से समझदारी से भरा हो पर सत्पुरुषों की चरित्र-पद्धति को वह स्पर्श नही करता। फ्रेंच उपन्यासकार विक्टर ह्यूगो ने अपने उपन्यास 'ला मिजराब्ल' के मुख्य पात्र को चोरी से परोपकार करने का व्यसनी बनाया है। वह चोर की तरह रात को किसी गरीब के घर मे प्रवेश करता है और वहां कुछ-न-कुछ पत्रम्-पुष्पम् डालकर फरार हो जाता है। इस तरह उसका दिनक्रम—अथवा रात्रिक्रम—बताया गया है और भगवान् को भी यही सकोच-वृत्ति सुहाती है। इसीलिए उन्हे अपने असली गीत छिपाकर माया की मुरली पर अवतारो का आरोह-अवरोह करने मे मजा आता है। 'अमानित्व' गीता मे ज्ञान का पहला लक्षण बताया है (गी. १३-७) इसलिए दुष्कृत्यो को जैसे अपमान से डरना चाहिए, वैसे ही सुकृत्यो को भी समान का डर लगना चाहिए। गेहू की रोटी बनाने के पहले कंकर बीनने की सूप मे की क्रिया, फिर पीसकर आटा बनाने की चक्की मे की क्रिया और तीसरी रोटी सेकने की चूल्हे मे की क्रिया, यों मुख्य तीन क्रियाए करनी पडती है। वैसे ही 'सत्'-कार के द्वारा असत्-कर्मों के कंकर चुनने के बाद, शेष बचे हुए सत्कर्मो के ठोस गेहू, तत्-कार की चक्की मे पीसने का काम करना पडता है और इसके बाद ईश्वरार्पण-बुद्धि के चूल्हे पर रोटी सेकने की अन्तिम क्रिया ॐकार के द्वारा होती है। सात्विक (सत्) कर्म मे भी अहकार की गाठ बची रहती है। इस गाठ को निकालने के लिए अलिप्तता की जरूरत रहती है। अलिप्त-वृत्ति के द्वारा अहकार पछोरने के बाद उस निरहकार स्थिति को

'गुणातीत' या 'निस्त्रैगुण्य' अवस्था कहते है (गी २–४५, १४–२५)। इसलिए कोई इस अवस्था का अर्थ सारे कर्मों का स्वरूपतः नाश यानी सर्व-कर्म-सन्यास करते है, तो कोई सारे कर्म अलिप्तता-पूर्वक करने की तरकीव यानी सर्व-कर्म-योग करते है। दोनो कल्पनाएँ अतिशयोक्ति से भरी है। सात्त्विक कर्मों का स्वरूपत नाश और राजस-तामस कर्मों को अलिप्तता-पूर्वक करने की युक्ति दोनो अभावात्मक है। वस्तुत गुणातीत-अवस्था चौथी अवस्था मानी गई है। इसलिए उसका सत्वगुण से कुछ-न-कुछ भिन्न अर्थ निकालने की जिम्मेदारी समझकर, ऊपर की अनुमानात्मक कल्पनाएँ की गई है। यह चौथी अवस्था है ही नही। आवश्यक हो तो इसे साढे तीसरी अवस्था कहा जा सकता है। विश्व की व्यामिश्र (काम्प्लेक्स) या व्याकृत रचना होने के कारण जिसे हम सत्त्वगुण कहते है वह शुद्ध सत्त्वगुण नही होता, उसमे राजस-तामस गुणो के भी कुछ-कुछ कण मिले रहते है (गी १४–१०)। इसलिए सत्त्वगुण मे अहकार का दोष रहता है। इसलिए शुद्ध सत्त्व-गुण (गी. १६–१) की स्वतत्र भूमिका मानकर उसे 'गुणातीतावस्था' नाम दिया है। इस शुद्ध अवस्था मे रज अथवा तम का अश नही रहता, इसलिए यहा तक पहुच जाने के वाद फिर पतन होने की सभावना नही रहती। इसलिए इसे नित्य-सत्त्व भी कहते है (गी. २–४५)। जिन मिश्र-गुणो को हम गुण कहते है, यह शुद्ध अवस्था उनके वाद की है, इसलिए इसे साढे तीसरी अवस्था मानने मे हर्ज नही है। इस शुद्ध-सत्त्व गुणी अवस्था को निर्गुण भी कहते है। लेकिन 'निर्गुण' शब्द मे के 'गुण' का अर्थ हमारा परिचित मिश्र गुण ही समझना चाहिए। इस गुणातीत अवस्था की व्याख्या भूमिति मे विंदु की व्याख्या के समान व्यवहार के फलक पर अकित होनेवाली नही है। इसलिए व्यवहार की अन्तिम भूमिका मिश्र सत्त्वगुण की ही है। और इस अवस्था मे राजस-तामस गुणो का अल्पाश, भले हमे न दिखता हो, फिर भी शेष रहता

है। इस कारण हम (अपने ज्ञान के अनुसार) कितना ही निर्दोष आचरण करते हों फिर भी उसमें थोड़ा-सा पाप का अंश रह जाना अपरिहार्य होता है (गी १८-४८)। इसलिए परम-ज्ञानवान् निष्पाप ऋषियों ने भी 'हमारे सुचरित का अनुकरण करो, दुश्चरित का मत करो' ऐसा स्पष्ट इशारा दे रखा है। लेकिन यह पाप बुद्धि-पूर्वक न किया गया हो, फिर भी चूंकि उसका कारण कानून का अज्ञान नहीं हो सकता, इसलिए ऋषि अज्ञान में हो गये, इस पाप के लिए 'यदह पापमकार्षम्'—मैंने (अज्ञानपूर्वक) जो पाप किये हों, उनके लिए भक्तवत्सल परमेश्वर क्षमा करे, यों उत्तरदायित्वपूर्ण भाषा में प्रार्थना करते हैं। लेकिन पाप हुआ हो या किया गया हो, चूंकि क्षमा नहीं किया जा सकता, इसलिए अन्त में वे सभी कृत्य ईश्वरार्पण करते हैं। इस ईश्वरार्पण-पूर्वक निष्काम सत्कर्म करने की वृत्ति को योग कहते हैं। अज्ञान-पूर्वक होनेवाले सूक्ष्म पाप को निकालने के लिए ज्ञानपूर्वक यावज्जीवन किये हुए पुण्यों को ईश्वरार्पण करने में जो त्याग-वृत्ति है वह योग का रहस्य है और अनुभव बतलाता है कि इस त्याग की वृत्ति से सहज ही शान्ति प्राप्त होती है (गी १२-१०)। स्पष्ट ही निष्काम बुद्धि से ईश्वरार्पण किये जाने वाले कर्म सत्-कर्म ही होने चाहिए। दान करना है, इसलिए घर के कूड़े-करकट का दान नहीं किया जाता। किसी स्वच्छ वस्तु का दान करने को ही दान कहते हैं। और जब शुद्ध और अ-पापविद्ध (ईश. ८) परमेश्वर को कोई चीज अर्पित की जा रही हो तब वह परम पवित्र होनी चाहिए, यह स्पष्ट है। भगवान भाव का भूखा है। इसलिए भक्तिपूर्वक 'जो कुछ भी' अर्पण किया जाय वह उसे प्रिय होता है, इस तत्त्व में गलती नहीं है। 'जो कुछ भी' का अर्थ 'जितना ही थोड़ा' समझा जाय, 'जितनी ही अपवित्र' नहीं। 'पत्रं पुष्पं फलं तोयम्'—ये पूजा की चीजें पवित्र हैं इसलिए चढ़ाई गई हैं। पत्र कहीं तो पत्ते की पत्तली में काम करेगा, लेकिन वह होनी चाहिए फूल की पत्ती।

वस्तुत जहा ईश्वरार्पण बुद्धि या भक्ति होगी, वहा यह कहने की आवश्यकता नही है कि भक्तिपूर्वक अपवित्र वस्तु अर्पण मत करो, क्योकि मानसशास्त्र की दृष्टि से भक्ति से अपवित्र वस्तु का चुनाव ही नही हो सकता। फिर भी पवित्रता पर जोर देने के लिए भगवान ने,'तदह भक्त्युपहृतम् अश्नामि प्रयतात्मन -' पवित्र पुरुष के द्वारा दी गई भक्ति की भेट मै प्रेमपूर्वक स्वीकार करता हू'—ऐसी पुनरुक्ति की है। जिस प्रकार पवित्रता का महत्त्त दिखलाने के लिए 'भक्तिपूर्वक अर्पित की जाने पर भी अपवित्र वस्तु भगवान को नही चढाई जा सकती' यह निरर्थक भाषा बरती जाती है, वैसे ही भक्ति का महत्त्व वढाने के लिए 'अपवित्र वस्तु भी यदि भक्तिपूर्वक अर्पण की जाय तो वह भगवान को मान्य होती है' ऐसी अनर्थक भाषा बरतते है। इन दोनो भाषाओ मे से यदि अर्थवाद का अश छोड दिया जाय तो एक ही तत्त्व ग्रथित होता है कि भक्ति और पवित्रता दोनो की जोडी टूट नही सकती। 'ॐ=तत्=सत्' यह वास्तविक स्थिति है। फिर भी 'ॐ+तत्+सत्' लिखना पडता है, और व्यवहार की दृष्टि से, यह ठीक भी है, क्योकि तात्त्विक समीकरण है (शुद्ध)सत् (यानी सत्-कर्म)=तत् (यानी निष्काम-कर्म)=ॐ (यानी ईश्वरार्पणपूर्वक कर्म) इसलिए 'सत्-कर्म करो,' इतने मे ही 'ईश्वरार्पण-पूर्वक निष्काम सत्कर्म करो' यह सारा अर्थ आ जाता है। फिर भी, शुद्ध सत् का अस्तित्व व्याख्या मे ही रह जाता है, इसलिए व्यवहार के मिश्र-सत् के सम्बन्ध मे बोलते समय यद्यपि 'ईश्वरार्पण-पूर्वक निष्काम', अथवा 'ॐ तत्' विशेषण जोडने पडते है, तथापि 'मिश्र'-सत् यानी जिसमे हेतु-पूर्वक अथवा जानबूझकर असत् की मिलावट की गई हो ऐसा 'सत्' यह अर्थ नही है, क्योकि ऐसा कृत्रिम-मिश्र सत्कर्म निष्काम अथवा ईश्वरार्पण हो ही नही सकता, बल्कि मिश्र-सत् का अर्थ है जिस सत्-कर्म मे यथासभव सावधानी रखने के वाद भी, मनुष्य-सुलभ अज्ञान के कारण, अथवा विश्व की व्यामिश्र रचना के

कारण, यदि 'असत्' का अंश रह गया हो तो वह सहज-मिश्र-सत् है। इस सहज-मिश्र-सत्य को ॐ-तत् का सहारा दिया जाता है। उदाहरणार्थ, अतिथि को दिये जाने वाले परम शुद्ध अन्न मे भी पोषण के साथ ही सहज विष भी मिला रहता है। चाय या शराव मे स्पष्ट विष होता है, वैसा चावल मे न हो, फिर भी चावल मे पोषण के साथ किंचित् गुप्त विष रहता ही है। इसके अलावा मैने अपनी ओर से स्वच्छता का कितना ही प्रयत्न किया हो, फिर भी अज्ञानकृत प्रमाद के कारण अस्वच्छता का कुछ-न-कुछ विष भी वाहर से उन चावलो मे घुसा रहता है। इसलिए (मेरी कल्पना के अनुसार निर्विष ही नही, बल्कि पोषक) चावलो का भात अतिथि को देकर मैने उसपर एक तरह से मानो विष-प्रयोग ही किया है। इस तरह के अनेक विष-प्रयोग होने के वाद मनुष्य कालान्तर मे मर जाता है। इसलिए उसकी मृत्यु मे मै हिस्सेदार हू, यह भी स्वीकार करना होगा। इस सहज खून का पाप, यदि मै अन्नदान का कृत्य ईश्वरार्पण बुद्धि से यानी निरहकार वृत्ति से और फलाशा छोड़कर करूँ, तो मुझे माफी मिल जायगी या पाप नही लगेगा। सभी कर्म सदोष हो, फिर भी कर्म का सम्पूर्ण त्याग न तो सभव है, न आवश्यक न इष्ट भी, इसलिए कृत्रिम-दोषयुक्त कर्म (यानी असत् कर्म) छोड़कर शेष सहज-दोष-युक्त कर्म (यानी व्यवहार की दृष्टि से सत्-कर्म और व्याख्या की दृष्टि से मिश्र-सत्-कर्म) निरहंकार वृत्ति से करने चाहिए,ऐसा शास्त्र का तत्त्व है। लेकिन हमेशा ध्यान मे रखना चाहिए कि निरहकार वृत्ति के द्वारा ऊपर कहा जा चुका है वैसा सहज-विष-प्रयोग पचाया जा सकता है, पर कृत्रिम-विप-प्रयोग नही पचाया जा सकेगा। 'यस्य नाहकृतो भावो.. न हन्ति न निबध्यते'—गीता के इस वचन का अर्थ इतना ही समझना चाहिए कि निरहकार वृत्ति को सहज हिसा का पाप नही लगता, लेकिन इसके आगे वढकर यदि यह अर्थ निकाला जाय कि निरहकारवृत्ति कृत्रिम हिसा के पाप को भी

धो डालती है तो कहना होगा कि निरहकार वृत्ति और गीतार्थ का रहस्य समझ मे नही आया। वस्तुत उपर्युक्त वाक्य निरहकार वृत्ति का महत्त्व दिखलाने के लिए है। कृत्रिम या सहज हिंसा की भी उचितानुचितता निश्चित करने के लिए नही। ऐसी स्थिति मे हिंसा के समर्थन के लिए उसका उपयोग करना युक्त नही है।

५

वैसे ही कौपीतकी ब्राह्मणोपनिषद् मे आख्यायिका की प्रवृत्ति आत्मज्ञान के महत्त्व को गौरवान्वित करके बतलाने के लिए है, इसलिए उसका उपयोग भी मा-बाप के सब्जी बनाने मे नही हो सकता है। प्रतर्दन इन्द्र-लोक मे गया, तो वहा इन्द्र ने उसे वरदान मागने को कहा। लेकिन प्रतर्दन ने इसपर उत्तर दिया, "तेरी दृष्टि से जो वर मनुष्य के लिए 'हित-तम' जान पडे, वही तू मुझे दे।" इसपर इन्द्र ने कहा, "वह वर जान पडता है 'स्वयवर' होना चाहिए।" तो प्रतर्दन ने कह दिया—"मुझे अभी वर ही नही चाहिए।" कुछ भी हो, फिर भी 'सत्यं हि इन्द्र'—सत्य ही इन्द्र का स्वरूप है इस कारण—उसे अपना वाक्य तो सत्य करना ही था। तब 'तू मुझे ही पहचान, क्योकि मेरी दृष्टि मे मुझे पहचानना ही मनुष्य के लिए हित-तम होगा", यह कहकर इन्द्र ने उसके समर्थन मे, "मैने त्वाष्ट्रादियो का वध किया, लेकिन उससे मेरा एक बाल भी बाँका नही हुआ", ऐसी आत्ममहिमा गाई है। और आखिर मे "जो मुझे पहचानता है उसके हाथ से मातृ-वधादि घोर कर्म हुए हो फिर भी उसे पाप नही (लगता)—नास्य पापम्" ऐसी 'रोचनार्था फल-श्रुति' बतलाई है। इस आख्यायिका का प्रयोजन त्वाष्ट्रवधादि इन्द्र-कर्मो की प्रशसा करना नही, बल्कि विज्ञान-स्तुति है, यह बात 'शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्' इस सूत्र पर किये गए भाष्य मे आचार्यों ने स्पष्ट कर दी है (ब्र. सू भा. १–१–३०) इस

सूत्र का भावार्थ यह है कि 'इन्द्र की भाषा वामदेव की भाषा के अनुसार शास्त्रीय है, व्यावहारिक नही ।' वामदेव वैदिक ऋषि है। ऋग्वेद के दस मण्डलो मे से चौथा समूचा मण्डल इन ऋषि को सौंप दिया गया है। विश्वात्मभावना के दृष्टान्त के रूप मे उपनिषदो मे इनके वचन नाम-निर्देश-पूर्वक उद्धृत किये गए है (ऐ. ४–५; बृ. १–४–१०)। 'य एव वेद अह ब्रह्मास्मीति स इद सर्वं भवति'—जिसे 'मै ब्रह्म हू' यह ज्ञान हो जाता है, वह सर्व-रूप बनता है। इस तत्त्व को सिद्ध करने के लिए वामदेव का उदाहरण देते है । वामदेव का विश्वात्म-भाव-प्रतिपादक सूक्त चौथे मण्डल का छब्बीसवाँ सूक्त है । इस सूक्त का प्रारभ 'अह मनुरभव सूर्यश्च'—मै ही मनु हुआ था, मै ही सूर्य हुआ था—इस चरण से होता है और यही चरण बृहदारण्यकोपनिषद् मे आधार के रूप मे लिया गया है और इसीका उल्लेख सूत्रकारो ने किया है। इसपर से वेदोपनिषदो की अविच्छिन्न परपरा दृष्टि मे आ जाती है। ब्रह्म-ज्ञान के द्वारा रूप अद्वैत के दर्शन होते ही मै ही चीटी से लेकर ब्रह्मदेव तक विविध रूप धारणकर, विश्व-व्यापक बना हुआ हू, ऐसा अनुभव होता है, यह बात हमे वामदेव के श्रौत उदाहरण पर से ही नही, बल्कि आगे 'मैने सूर्य को उपदेश दिया' (गी. ४–१) या 'सप्तर्षि मनु वगैरह सब मेरे ही भाव है' (गी. १०-७) इत्यादि भगवद्-वचन और अर्वाचीन काल मे 'तुका आकाशा एवढा'—तुकाराम आकाश के बराबर है—जैसी अभगवाणी से भी दिखाई देती है, बल्कि जितने अश मे अद्वैत-भावना जागृत होगी, उतने अश मे इस विश्व-रूपत्व का अनुभव किसीको भी हो सकता है। इस विश्व-रूप महान आत्मा को दुनिया भर मे सज्जनो की ओर से होनेवाले सत्कर्म और दुष्टो की ओर से किये जानेवाले असत्कर्म, सब 'मेरे ही है' ऐसा जान पडना स्वाभाविक है। इसी अर्थ मे 'बहूनि मे अकृता कर्त्वानि'—मैने बहुत-से अकरणीय कर्म किये है (ऋग्वेद ४-१८२), यो वैदिक ऋषियो के, या

'भीषण अहकारे अगी भरला ताठा, विषय-कर्दमात लाज नाही लोळता'—'मैं अपनेपन के अहकार से अकडता जाता हूँ। मुझे विषय-रूपी कीचड मे लोटते हुए शर्म नही आती'—ऐसे लौकिक सतो के उद्गार निकलते हैं। सारी दुनिया का कोई भी चोर चोरी करे तो—शास्त्रीय भाषा में—इस महात्मा के द्वारा की गई चोरी ही वह मानी जायगी, किसी खूनी मनुष्य के किये गए खून शास्त्रीय भाषा में इस महात्मा के द्वारा किये गए खून ही होगे। लेकिन ऐसे कितने ही खून, या कितनी ही चोरियाँ इस महात्मा के हाथ से होती हो फिर भी उनसे इसका एक बाल भी बाँका नहीं होता, यह भी उसी ज्ञान की महिमा है कि जिसने सारे ससार के पाप इस महापुरुष के सिर मढे गये थे। इसलिए स्थित-प्रज्ञ की इस शास्त्रीय भाषा को व्यावहारिक भाषा समझना उचित नही होगा। इन्द्र की भाषा वामदेव की भाषा के समान विश्वात्म-भाव-प्रेरित अथवा शास्त्रीय है, इसलिए 'शास्त्र-दृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्' सूत्र कहता है कि उसका व्यावहारिक अर्थ मत निकालो। इसलिए परमज्ञानी पुरुष का वर्णन करते हुए उपनिषद् मे 'यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकाम-हत' (१) श्रोत्रिय यानी वेदवेत्ता, (२) अ-वृजिन यानी निष्पाप, और (३) अ-काम-हत यानी निष्काम, ये तीन विशेषण उप-योग में लाये गये है। 'सर्वे-वेदा यत्पदमामनन्ति' इस श्रुति वचन के कथन के ही अनुसार सारे वेदो का निष्कर्ष ॐकार मे व्यक्त होता है, इसलिए श्रोत्रियत्व का सग्रह ॐकार मे हो सकता है। इसी प्रकार अ-वृजिनत्व और अ-कामहतत्व क्रमश 'सत्'-कार और 'तत्'-कार के अर्थ है। इसलिए गीता के त्रिविध ब्रह्म-निर्देश मे जो सत्कर्म-योग का उपदेश दिया गया है, वही उप-निषद उपर्युक्त तीन विशेषणो मे ग्रथित हो गया है, इसमे सदेह नही। ॐकारोपासना का यदि कर्म-योग की दृष्टि से रूपान्तर किया जाय तो अ=श्रोत्रियत्व, उ=अ-कामहतत्व, और म्=अ-वृजिनत्व यो सीधे अर्थ निष्पन्न होते है। शान्ति का त्रिकोण

तीन सुरेखाओ से बना हुआ है, इस कारण यदि उसकी एक भी सुरेखा अलग की जाय तो उससे शान्ति नष्ट होती है। इसलिए निष्काम अनीति की कल्पना की ही सभावना नही होती।

६

"लेकिन 'सत्' क्या है और 'असत्' क्या है, इस सम्बन्ध मे नीति-शास्त्र ही चुप्पी साधकर बैठा है और सत्यानृत का ऐसा मिश्रण करना कि जो अलग-अलग पहचाना न जा सके, यही तो व्यवहार की मुख्य कला है। और चूकि उसके बिना लोक-यात्रा नही चल सकती, इसलिए 'सत्यानृत तु वाणिज्यम्' कहकर एक प्रकार से व्यवहार-दृष्टि से असत्य को मानों सम्मान प्रदान कर दिया है।" यह अर्ध-नैतिक स्वार्थ-पडितो की तरकस का अन्तिम बाण है। उनकी अपेक्षा रहती है कि यह बाण कारगर होगा ही। लेकिन प्रायः जहा नीति-शास्त्र की गति समाप्त होती है, वही से उपनिषदो का सिर्फ आरभ ही होता है। इसलिए नीति-शास्त्र का यद्यपि निर्णायक स्वरूप न हो, फिर भी उपनिषदो की उच्च भूमिका पर' छिद्यन्ते सर्व-सशया '—सारे सशयों का नाश हो जाने के कारण—उपनिषदो को नीतिशास्त्र की उलझन का स्पर्श तक नही हो सकता। व्यवहार सफल होने के लिए 'नपा-तुला' सत्य, 'व्यावहारिक' सत्य, 'लाभ-दायक' सत्य, 'जेबी' सत्य, 'गप्प से भरा' सत्य, 'मीठा' या 'रुचने-वाला' सत्य आदि सत्य उपयोगी न होकर "मना सत्य ते सत्य वाचे वदावे"—मन मे जो सत्य हो उसे ही वाचा से कहना चाहिए—इस सत-वचन का सीदा-सादा सत्य ही विजयी होगा। यही उपनिषत्कारो का दृढ सिद्धात है। और इसे उन्होने एक आ-ख्यायिका के रूप मे स्पष्ट किया है यह आख्यायिका नीति-शास्त्र की दृष्टि से भी मननीय है और उसपर से ऋषियो की चार वर्णो के बारे मे जो कल्पना थी वह भी समझ मे आती है।"प्रारभ में केवल (ब्राह्मण-रूप) ब्रह्म ही अकेला था, लेकिन उतने से

व्यवहार अच्छी तरह नही चला। इसलिए उस (ब्राह्मण-रूप) ब्रह्म ने श्रेयो-रूप क्षत्रिय वर्ण की उत्पत्ति की। जैसे अग्नि देवताओ मे ब्राह्मण है, वैसे ही इन्द्र, वरुण, सोम, रुद्र, पर्जन्य यम, मृत्यु और ईशान, ये 'राज' शब्द धारण करनेवाले देवताओ मे क्षत्रिय है। इस प्रकार से ब्राह्मणो ने अपना यश क्षत्रियो मे स्थापित किया। इसलिए क्षत्रियो से बढकर कोई भी श्रेष्ठ नही है। इसलिए राजसूय-यज्ञ जैसे प्रसग पर क्षत्रिय को उच्चासन पर बैठाकर (सबके सामने उदाहरण पेश करने के लिए) ब्राह्मण स्वत नीचे बैठते है। लेकिन राजा कितना ही श्रेष्ठ हो, फिर भी क्षत्रियो के लिए ब्राह्मण मा जैसे है, इसलिए अन्त मे उसे ब्राह्मण के पाँव ही पकडने पडते है। और जो राजा मा की जगह पर बैठनेवाले ब्राह्मणो की (अपमानादि) हिंसा करता है, वह शास्त्र के अनुसार महा-पातकी होता है, (छा ६-१०-९)। अस्तु, लेकिन जब क्षत्रियो की मदद से भी काम नही चला तब ब्रह्म ने वैश्य-वर्ण की उत्पत्ति की। देवताओ मे जो 'गणश' यानी सघ (गिल्ड) बनाकर रहनेवाले है, जैसे (आठ) वसु, (ग्यारह) रुद्र, (बारह) आदित्य, (तेरह) विश्वे-देव, या (उनचास) मरुत, वे सब वैश्य है। जब त्रैवर्णिक होने पर भी व्यवहार पूरा नही हुआ तो ब्रह्मा ने शूद्र (पोषक) वर्ण का निर्माण किया। देवताओ मे शूद्र कौन ? यदि आप यह पूछे, तो वह है हम सबको अन्नरस से पोषित करनेवाली हमारी यह मातृ-भूमि (पृथिवी)। लेकिन समस्त चातुर्वर्ण्य की उत्पत्ति करने पर भी व्यवहार का निर्वाह नही हो पाया, तब ब्रह्म ने परम-श्रेयोरूप धर्म का निर्माण किया। यह क्षत्रियो मे भी क्षत्रिय है। धर्म से श्रेष्ठ हो, ऐसी कोई चीज दुनिया भर मे नही। इसलिए इस धर्मराज के बल पर दुर्बल माने जाने वाले मनुष्य भी बल-वान का सामना कर सकते है। धर्म यानी सत्य। सत्यवादी पुरुष को धर्म-वादी कहते है और धर्म-वादी पुरुष को सत्यवादी कहते है। एक ही ब्रह्म ने ये दोनो रूप धारण किये है।" इस आख्या-

यिका मे ऋषियो ने बतलाया है कि धर्म ही व्यवहार का एकमेव आधार है। लेकिन चूकि कहा गया है कि 'धर्म से व्यवहार चलता है,' इसलिए इसपर से कोई उल्टी कुलॉच मारकर तय कर सकता है कि 'जिससे व्यवहार चलता है वह धर्म ।' और व्यवहार किस तरह चलता है वह तो हम व्यावहारिक लोग पहले ही निश्चित कर चुके है। व्यवहार सत्यानृत के पहचानने मे न आनेवाले मिश्रण से चलता है, इसलिए धर्म यानी सत्यानृत का पहचानने मे न आनेवाला मिश्रण, ऐसी अनर्थापत्ति प्राप्त होती है। इसलिए उपनिषदो ने स्पष्ट लिख रखा है—'यौ वै स धर्म. सत्य वै तत्'—धर्म यानी सत्य। लेकिन 'नीति' का अर्थ क्या है ? 'स्वय का सुख'। 'स्वय का सुख' क्या ? 'स्वय का दूरदर्शी सुख।' 'स्वयं का दूरदर्शी सुख यानी क्या?' 'समाज-सुख।' 'समाज-सुख का क्या अर्थ है ?' 'समाज का अ-विकृत सुख।' 'समाज का अविकृत सुख यानी क्या ?' 'समाज-हित'। 'समाज-हित' यानी क्या ? .....और बिल्कुल आखिर मे,' क्या' यानी क्या ? यह व्यावहारिक नीति-शास्त्र की डेढ अक्ल है, अन्त मे डेढ-अक्ल नीतिशास्त्री 'सत्य'का भी अर्थ पूछे बिना कैसे रह सकते है ? इसलिए सत्य यानी धर्म और धर्म यानी सत्य कहकर सारी प्रश्न-परम्परा की परिसमाप्ति की गई। व्यवहार सत्य के द्वारा ही चलता है, जितने अशो मे सत्य मे अनृत मिलता है, उतने ही अशो मे व्यवहार मरता है, यह उपनिषदो का सिद्धात है। और आगे कभी किसी बडे व्यवहार मे लोगो को धोखा दे सके, इसलिए ही क्यो न हो, पहले छोटे-मोटे व्यवहारो मे ईमानदारी की ख्याति या साख प्राप्त करनी पडती है। इस बात का अनुभव तो व्यावहारिको को है ही। इससे स्पष्ट है कि झूठ भी सत्य के बिना नही चलता।

साराश, 'सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितम्'—सत्य ही सारी सृष्टि का जीवनाधार है—इसलिए सत्य क्या और असत्य क्या, इसका निर्णय करना सशयवादी नीतिशास्त्र की बहिर्मुख दृष्टि के लिए

चाहे संभव न हो, परन्तु 'मै सत्य के ही मार्ग से जाऊगा, शान्तिमय साधनो का ही उपयोग करूगा', यह सत्य-व्रत ही व्यवहार मे भी यशस्वी होगा। इसी श्रद्धा से अन्तर्यामी परमात्मा को साक्षी रखकर, 'सन्मार्गे प्रज्ञा रक्षणीया'—वुद्धि को सन्मार्ग से विचलित नही होने देना चाहिए। हिंसक वृत्ति के द्वारा जगत को भयभीत कर स्वय निर्भय वनना असम्भव है, इसलिए शान्ति ही निर्भयता की नीव और शिखा है । शान्ति को कर्म का डर न लगता हो, फिर भी पापकर्म शान्ति से डरकर 'दूर' भाग जाते है, इसलिए शान्ति को 'दूर्नामक' देवता कहा गया है। असत्-कर्मों का स्वरूपत त्याग कर निष्काम वुद्धि-पूर्वक सत्-कर्म करना शान्ति का सच्चा स्वरूप है। लेकिन भले-वुरे सभी कर्म अलिप्त रहकर करने की युक्ति ही शान्ति है। यह शान्ति की सशोधित व्याख्या उपस्थित होने पर, इस विकृत व्याख्या की व्यावृत्ति करने के लिए 'शान्ति का अर्थ ही है शान्ति' इस प्रकार से 'ही' का प्रयोग कर ऋषियो ने शान्ति की आवाल-सुवोध व्याख्या की है।

७

यजुर्वेद के शान्ति-पाठ वाले अध्याय में ॐकार और शान्ति की अद्वैतता वताकर शान्ति की जो व्याख्या की है, उस व्याख्या का कर्मयोग की दृष्टि से यहातक ऊहापोह किया। अब आगे यजुर्वेद के अन्त की ओर वढना है। शान्ति-पाठ अध्याय मे शान्ति का स्पष्ट उच्चारण कर ॐकार सूचित किया गया है। इससे उलटे, इस अन्तिम अध्याय मे ॐकार का स्पष्ट उच्चारण करके शान्ति सूचित की गई है। इस अन्तिम अध्याय (और शाति-पाठवाले अध्याय के भी) द्रष्टा ऋषि दधीचि (दध्यड्-आथर्वण) माने जाते है। इसी अध्याय मे से 'ईशावास्योपनिषद्' लिया गया है। साक्षात् सहिता मे से लिया गया एकमात्र उपनिषद होने के कारण इसे महत्त्वपूर्ण माना गया है। मूल यजुर्वेद के अध्याय मे और प्रसिद्ध ईशावास्योपनिषद् मे किंचित् क्रम-भेद है, और यजुर्वेद के अध्याय मे सत्रह मत्र और ईशावास्यो-

ॐ शान्तिः शान्ति शान्तिः

पनिषद् में अठारह मंत्र आये हैं। यजुर्वेद के इस अंतिम अध्याय में (१) वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम्——मनुष्य के शरीर में चेतना-युक्त (अनिल) वायु ही अमर अंश है, शेष शरीर की राख होनेवाली है, (२) अग्ने नय सुपथा——अग्ने ! हमें ऋजु-मार्ग से ले जा——और (३) योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्——जो पुरुष आदित्य में निवास करता है वह मैं हूं——ये तीन अन्तिम मंत्र हैं। वायु ॐकार में का 'उ' कार, अग्नि 'अ' कार और सूर्य (अथवा इन्द्र) 'म' कार है, इसलिए इसमें शक रहता ही नहीं कि इन तीन मंत्रों में ॐकारोपासना का प्रतिपादन होना चाहिए। और पहले वायु-विषयक मंत्र को 'ॐ क्रतो स्मर कृतं स्मर' की पूरणिका जोडी गई है। इसलिए अनुमान करने बैठने की आवश्यकता ही नहीं। 'क्रतु' शब्द का अर्थ होता है कर्म-विषयक प्रेरणा या संकल्प। जिस प्रकार अविरोधवृत्ति या ॐकारोपासना ही 'ब्रह्म-कर्म' का आधार है, इसलिए 'ॐ तत्सत्' के ब्रह्म-निर्देश का गीता ने कर्म-परक अर्थ लगाया है। वैसे ही ॐकार को 'क्रतु' या 'कर्म-प्रेरक' विशेषण जोडकर 'हे कर्म-प्रेरक ॐकार किये हुए कर्मों का स्मरण कर', इस प्रकार दधीचि ऋषि ने ॐकार से प्रार्थना की है। इससे स्पष्ट है कि यजुर्वेद के ये अन्तिम तीन मंत्र, ॐकार की तीन मात्राओं का विवरण करने के लिए प्रवृत्त हुए हैं। लेकिन तीन मात्राओं के योग से ध्यान के द्वारा निष्पन्न होने वाली, तीन मात्राओं के परे की आधी मात्रा यानी स्वतंत्र निर्दिष्ट किये बिना उपासना पूरी या बिल्कुल ही हो नहीं सकती, इसलिए ॐ खं ब्रह्म——ॐ यानी 'खं ब्रह्म——' इन शब्दों में सनातन या अविरोधात्मक शान्ति सूचित कर यजुर्वेद की समाप्ति की गई है। साढे तीन मंत्रों में साढे-तीन मात्राओं की उपासना करने पर वेदों का अन्त होना सहज ही है। इनमें से पहले तीन मात्राओं का विस्तृत विचार उपनिषदों के अध्ययन में आगे चलकर करना होगा। इसलिए अभी शान्ति-रूप में ख-ब्रह्म की उपासना कर मुक्त होना ही ठीक है। यह

आधा मत्र ईशावास्योपनिषद् मे न हो, फिर भी यजुर्वेदीय माने जानेवाले बृहदाकारण्यकोपनिषद् मे आया है (बृ ५–१)। और बाद मे 'द' कार की आख्यायिका कही गई है (बृ. ५–२)। शान्ति की प्राप्ति के लिए दम-दान-दया ये तीन साधन है, इसीलिए शान्ति-सूचक ख-ब्रह्म की सगति 'द'-कार से जगती है। लेकिन पहले तो प्रश्न है 'ख-ब्रह्म' यानी क्या ? और उसका शान्ति से कौन-सा सम्बन्ध है ?

ॐ 'ख-ब्रह्म' है, यह समझने के लिए ख-ब्रह्म का मतलब समझना आवश्यक है। इस ख-ब्रह्म के बारे मे छान्दोग्योपनिषद् के चौथे अध्याय मे एक आख्यायिका कही गई है "एक उपकोसल नामक बालक सत्यकाम-जाबाल के आश्रम मे ब्रह्मचर्यपूर्वक रहा। उसने बारह वर्ष तक (तीन) अग्नियो की उपासना की। लेकिन गुरु ने दूसरे शिष्यो का समावर्तन तो किया, सिर्फ इसका नही किया। तब गुरु-पत्नी गुरु से कहने लगी, 'बिचारा चन्दन के समान घिस चुका है, उसे आप विद्या नही देते तो अग्नि आपको दोष देगे। इसलिए विद्या देकर बालक को छुट्टी दें।' फिर भी उस ओर ध्यान न देकर गुरु प्रवास पर चले गए। तब दु खी होकर बालक ने उपवास का सत्याग्रह शुरू किया। गुरु-पत्नी कहती, 'बेटा, भोजन करो। खाते क्यो नही ?' बालक उत्तर देता, 'मनुष्य को अनेक चिन्ताएँ रहती है। मुझे भी ऐसी कई मानसिक चिन्ताएँ है। इसलिए नही खाता।' आखिर तीनो अग्नियो ने विचार किया, बेचारा बालक हमारी सेवा करके तपा है, हमी उसे विद्या दे दें। फिर उन्होने उपकोसल को 'प्राणो ब्रह्म, क ब्रह्म, ख ब्रह्म' इस विद्या का उपदेश दिया।" इस आख्यायिका की तीन अग्नियो को तीन मात्राओ की जगह मान ले, तो 'प्राणो ब्रह्म क ब्रह्म ख ब्रह्म'—आत्मा ब्रह्म है,'क' ब्रह्म है, 'ख' ब्रह्म है—यह आधी मात्रा होगी। आत्मा ब्रह्म है, इसका अर्थ तो हम समझ सकते है, लेकिन प्रश्न यह उत्पन्न होगा कि क ब्रह्म और ख-ब्रह्म यानी क्या ? और वही प्रश्न उपकोसल ने भी पूछा है। 'कच तु ख

च न विजानामि'—यह 'क' और 'ख' कुछ समझ मे नही आते। इसपर अग्नियो ने स्पष्टीकरण किया—'यद्वाव क तदेव ख, यदेव ख तदेव कम्'–क यानी ख और ख यानी क। 'क यानी ख, ख यानी क और दोनो मिलकर क्या ?' दोनो मिलकर आत्मा, ब्रह्म, ॐकार। ॐकार चूकि वाङ्मय ब्रह्म है, इसलिए क=ख=ग=घ=ॐ, यही समीकरण सहज सिद्ध हो जायगा। और 'अमत्रमक्षर नास्ति' प्रत्येक अक्षर (ॐकार के समान) मत्र रूप ही है —भी इसी दृष्टि से कहा गया है। लेकिन क-ब्रह्म और ख-ब्रह्म ये दो ही पर्याय चुनने मे क्या हेतु होगा ? क और ख शुरू के व्यजन है, इसलिए सारी वर्ण-माला के प्रतिनिधि के रूप मे उनका चुनाव किया गया है। इस अर्थ की अपेक्षा ऋषियो की पद्धति के अनुसार इसमे कुछ-न-कुछ अधिक अर्थ होना चाहिए। अब वह अर्थ कौन-सा है ? प्रथमत 'क-ब्रह्म' को छोडकर 'ख-ब्रह्म' का ही अर्थ खोजना चाहिए, क्योकि उसीका विचार करना प्रस्तुत है और श्रुति ने भी 'क ब्रह्म' को छोडकर सिर्फ 'ख ब्रह्म' का ही अर्थ दिया है। 'प्राण च हास्मै तदाकाश चोचु' (अग्नियो ने परोक्ष रीति से उपकोसल को) आत्म-तत्त्व के साथ आकाश की उपासना करने को कहा, उपनिषदो मे यो अर्थ बताया गया है। 'ख' शब्द का 'आकाश' अर्थ कोश मे भी दिया रहता है। उस अर्थ को लेकर उपनिषदो ने तय किया है कि ॐकार यानी 'आकाश रूपी ब्रह्म' यह भाव 'ॐ ख-ब्रह्म' यजुर्वेदीय ऋषियो का है। ब्रह्म को आकाश की उपमा नित्य देते है। सृष्टि के सारे भौतिक पदार्थो मे आकाश का स्वरूप चूकि ब्रह्म के निकट है, इसलिए 'आकाशो ब्रह्मेति'—आकाश ही ब्रह्म (छा ३-१, ८-१) इत्यादि श्रुतिवचन 'नभासारिखे रूप या राघवाचे'—इस राघव का रूप नभ के समान है—इत्यादि सन्त-वचनो ने आकाश के स्थान पर ब्रह्म-भावना मान कर चलने को कहा है—

"नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥"

"जिसे न शस्त्र छेदन करते है, न आग जलाती है, न पानी भिगोता है, न हवा सुखाती है।" यह वर्णन जैसे आत्मा को या ब्रह्म को लागू होता है, वैसे ही आकाश को भी लागू हो सकता है। यही नही, बल्कि दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक अथवा उपमान और उपमेय का यह मौलिक भेद आगे चलकर नष्ट हो आकाश शब्द ही ब्रह्म-वाचक बन गया, यह ब्रह्म-सूत्र मे कहा गया है। (ब्र सू. १-१-२२)। आकाश और ब्रह्म अनेक गुणो मे समान हो, फिर भी किस विशिष्ट गुण के कारण 'ॐख-ब्रह्म' इस ब्रह्म-वाचक सकेत-मत्र मे ॐ और ब्रह्म के बीच मे 'ख' को स्थान मिला है ? इसका उत्तर हमारी राय मे आकाश की अविरोध-वृत्ति अथवा शान्ति ही है। अन्न के बिना कुछ महीने चल सकता है, पानी के बिना कुछ दिन निभाया जा सकता है, हवा के बिना कुछ क्षण टिका जा सकता है, लेकिन आकाश के बिना ? आकाश के विना का अर्थ क्या—इसकी कल्पना तक नही हो सकती। 'जेथे जातो तेथे तू माझा सागाती'—जहा जाता हू वहा तू मेरे साथ रहता है—इतनी व्यापक सत्ता होने पर भी अविरोध-वृत्ति के कारण उस सत्ता का भास तक नही होता। जो सरकार कम-से-कम सत्ता इस्तेमाल करती है वह ज्यादा-से-ज्यादा उत्तम है—यह कसौटी आकाश के समान और किसी भी भौतिक पदार्थ को लागू नही होती। 'स्वर्ग के ऊपर, पृथिवी के नीचे, वैसे ही बीच के अन्तरिक्ष मे, त्रैकालिक सत्ता किसकी है ?' गार्गी के इस प्रश्न के उत्तर मे याज्ञवल्क्य ने 'आकाश की सत्ता' कहा। पर जब गार्गी ने पूछा, 'इस आकाश पर किसकी सत्ता है ?' तब उन्होने अन्तिम उत्तर दिया (ॐकार-रूप) अक्षर की सत्ता (बृ. ३-८)। ईश्वरीय साम्राज्य के स्वातन्त्र्यवाद या अविरोध-वृत्ति के रूप मे (ख) आकाश का चुनाव किया गया है। आकाश का नील-वर्ण भी अविरोध-वृत्ति का सूचक है, इसलिए 'घन-नील श्यामल' परमेश्वर भक्तो का विशेष प्रिय बना है। आकाश का रग आँखो को शान्ति देता है, इसलिए दूसरे अभिमानी रग छोडकर, आकाश का खून करने के

लिए कटार के समान घुसेडी गई इमारत की दीवार पर भी आकाश का रग चढाया जाता है। यह अविरोध-वृत्ति का विरोध करने के बदले प्रायश्चित्त तो नही है ? आकाश की इस शान्त वृत्ति के कारण लोगो ने आकाश को शून्य नाम देने मे भी कसर नही की।'उतेमाहुर्नैषो अस्तीत्येनम्' (ऋग्वेद २-१२-५)—आत्मा है ही नही—कहनेवाले लोगो की परम्परा क्या वेद-काल से नही चली आई ? लेकिन यो 'ख-ब्रह्म' की अवगणना होती रही हो, फिर भी यह 'ख'-ब्रह्म इतना क्षमाशील है कि वह अपनी अवगणना करनेवालो के हृदय मे निवास करता है। इस हार्दाकाश को किंवा हृदयस्थ अविरोध-वृत्ति को चूकि 'ख-ब्रह्म' सज्ञा दी गई है, इसलिए 'ॐ ख-ब्रह्म' और 'ॐ शान्ति' ये पर्याय ही सिद्ध होते है। इस प्रकार 'ॐ ख-ब्रह्म' इस साकेतिक मत्र के द्वारा शान्ति की उपासना सुझाकर यजुर्वेद ने अवतार-समाप्ति की है।

शान्ति का पुष्टि के साथ और इसलिए तुष्टि के साथ नित्य का सम्बन्ध है। इस कारण शान्ति के बिना सुख मिलना असम्भव है, (गी० २-६६)। यह अध्यात्म का पहला सिद्धान्त है। आत्मा चूकि अविरोध-वृत्ति की मूर्त्ति है, इसलिए ज्ञानेश्वर की उक्ति 'सर्व सुखाचे आगर । बाप रखुमा-देवी-वर'—रुक्मणि का पति श्रीकृष्ण सब सुखो का घर है—इस उक्ति मे सुखो की परिसीमा हो गई है। ससार मे भी जो सुखो का अश है, वह शान्ति के ही कारण आया है। शान्ति और सुख इन दोनो का इतना साहचर्य होने के कारण शान्ति-वाचक 'शम्' शब्द वेदो मे जहा-जहा आया है, वहा-वहा वेद-भाष्यकारो ने प्राय: उसका अर्थ सुख किया है। और सुख-वाचक 'क' शब्द का उपयोग कर उपनिषदो ने भी 'क' यानी 'ख' और 'ख' यानी 'क' कहा है। तैत्तरीयोपनिषद् मे तो छान्दोग्य मे के साकेतिक 'क' और 'ख' का योग कर 'यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्' – यदि यह आकाश आनन्द न होता—तो 'कोह्येवान्यात् क प्राण्यात्' —प्राण-अपान की (यानी श्वासोच्छ्वास की) क्रिया भी कौन कर पाता ?—इस

प्रकार क-ख का जीवनाधारत्व वर्णित है। 'आकाश-आनन्द' यानी 'आकाश-जैसा विशाल आनन्द' यह अर्थ तो है ही। लेकिन क-ख दोनो शब्दो की ओर ध्यान दिया गया है, इसलिए इसका आतरिक अर्थ है 'शान्ति'-जन्य आनन्द। यदि यह 'आकाश-आनन्द' न होता तो प्राण-क्रिया न होती, यह कहने मे उपकोसल को अग्नि का सिखाया हुआ 'प्राणो ब्रह्म, क ब्रह्म, ख ब्रह्म' मत्र नि सदेह अनुसधेय है। इसलिए उपकोसल को मिले हुए मत्र मे (१) आत्मा—प्राण—ॐकारोपासना का आधार है (२) शान्ति—'ख'—ॐकारोपासना का स्वरूप है, और (३) आनन्द—'क'-ॐकारोपासना का फल है, ये तीन तत्त्व इकट्ठे हुए है। लेकिन आत्मा का उत्तम वर्णन शान्ति की भाषा मे ही हो सकता है, और आनन्द और शान्ति तो पर्याय ही है, इसलिए शान्ति के तीन बार उच्चारण करने से इन तीनो तत्त्वो का एक साथ स्मरण हो सकता है।

८

ॐकारोपासना और शान्ति का अन्योन्य सम्बन्ध कैसा है, इस सम्बन्ध मे अभीतक जो विवेचन किया गया है वह दिग्दर्शनार्थ यथेष्ट है। वस्तुत ऋषियो के सभी गीत ॐकार और शान्ति के विवाह-मगल मे गाये गये है। इस दृष्टि से ॐकारोपासना का स्पष्टीकरण ही उपनिषदो का अध्ययन है। यह अध्ययन चूकि क्रमश होनेवाला है, इसलिए अभी अधिक गहराई में उतरने की आवश्यकता नही। फिर भी अभी तक के विवेचन मे ॐकार की तीन मात्राओ के जो भिन्न-भिन्न अर्थ बताये गए है, उन्हे एक जगह इकट्ठा करने की दृष्टि से, आगे एक तालिका दी गई है। उसमे अभी तक नही किये गए विवेचन का भी समावेश किया गया है। उस तालिका का ध्यान-पूर्वक मनन करना जरूरी है। अर्वाचीन वेदान्त-ग्रथ मे जैसे सृष्टि के पॉच विभाग कर विवेचन किया जाता है, उसी प्रकार से उपनिषदो मे प्राय पचीकरण के बदले, ॐकार की तीन मात्राओ को ध्यान मे रखकर त्रिवृत्करण (छा० अध्याय ६) किया जाता है, क्वचित पचीकरण-पद्धति भी

ग्रहण की गई है। उदाहरणार्थ वाक्, मनस और प्राण इन तीनो प्राणो मे चक्षु श्रोत्र का समावेश कर पच-प्राण बनाये गए है, यह बात इस लेख के प्रारम्भ मे आ ही चुकी है। लेकिन सामान्य प्रवृत्ति त्रिवृत्-करण की दिखाई देती है। उस दृष्टि से इस तालिका मे (अभी तक न आये हुए भी) अनेक तत्त्वो का उल्लेख किया गया है और इसलिए यह तालिका आगे के अध्ययन मे भी उपयोगी होगी। उसका मनन करना कई दृष्टियो से मनोरजक भी होगा। उपनिषदो की विचार-प्रणाली चूकि सर्व-स्पर्शी है, इसलिए इस त्रिवृत्-करण मे बहुतेरे शास्त्रो का समावेश किया गया है। न्याय, व्याकरण, गणित, पदार्थ-विज्ञान, शरीर, मानस, समाज-धर्म, साख्य, योग, वेदान्त, इत्यादि अनेक शास्त्रो के दृष्टान्त लेकर ऋषियो ने ॐकार का विवेचन किया है। जैसे, क्या खाया जाय (या इष्टका) कितना खाया जाय (यावती) कैसे खाया जाय (यथा) ये आहार-शास्त्र (डायटेटिक्स) के तीन मुद्दे भी कठोपनिषद् मे अप्रत्यक्ष रीति से उल्लिखित है, यह साफ मालूम होता है। अग्नि को प्रज्वलित करने के लिए 'इष्टका' कौन-सी, कितनी और कैसी ली जाय, यह एक मुद्दा है। उसीको यदि कोई जठराग्नि पर भी लागू करे तो उसपर आपत्ति उठाने का कोई कारण नही जान पडता। साराश यह है कि 'न त्वह तेषु ते मयि'—वे मुझपर अवलम्बित है, मै उनपर अवलम्बित नही—भगवान की इस उक्ति के अनुसार अध्यात्म-विद्या के सिद्धान्त दूसरी विद्याओ को भी सहज ही व्याप्त करने वाले है। वस्तुत जलानेवाला अग्नि जठराग्नि नही है, उसी प्रकार वह तिल-चावल ही का भक्षण करनेवाला होमाग्नि भी नही है। वह अग्नि आध्यात्मिक है और उसका ज्ञान हुए बिना उपनिषदो का अध्ययन पूर्ण होना सभव नही, इसलिए यथा-समय उसका भी विवेचन करना ही पडेगा। अस्तु, इसलिए सूचना है कि इस तालिका का चिन्तन वाचक आध्यात्मिक दृष्टि से ही करे।

ॐ शान्ति शान्ति शान्ति।

विश्व-संवादी ॐ

अ	उ	म्	
अग्नि	वायु	इन्द्र	(ईश. १६ १८, के. ५)
ऋग्वेद	यजुर्वेद	सामवेद	
(ज्ञानयोग)	(कर्मयोग)	(भक्तियोग)	(बृ १ ५ ५)
पृथ्वी	अन्तरिक्ष	द्युलोक	(बृ १. ५. ४)
जागरित	स्वप्न	सुषुप्त	(माण्डूक्य)
वाक्	मनस्	प्राण	(बृ १ ५ ३)
भू (व्याहृति)	भुव	सुव	(तै १ ५)
'तज्ज' उत्	'तल्ल' गी	'तदन' थम्	(छा ३ १४)
आधिभौतिक	आधिदैविक	आध्यात्मिक	(त भाष्य १ १)
लक्ष्मी (भारती)	शक्ति (इळा)	सरस्वती	(ऋ ३ ४ ८)
दम	दया	दान	(बृ ५ २)
निष्कामत्व	निर्लोभत्व	निर्वैरत्व	(गी १६)
न घातयति	न हन्ति	न हन्यते	(गी २)
हेतु-कर्तृत्व	कर्तृत्व	कर्मत्व	(गी भाष्य)
(त्र्यम्बक का)			
प्रथम नेत्र	द्वितीय नेत्र	तृतीय नेत्र	(ऋ ७ ५९. ४)
(विष्णु का)			
पहला कदम	दूसरा कदम	तीसरा कदम	(ऋ १. २२ १८)
(गायत्री का)			
प्रथम चरण	द्वितीय चरण	तृतीय चरण	(बृ. ५. १४)
(चमस की)			
लम्बाई	चौडाई	मोटाई	(छा ३ १५. १)
प्रात (सवन)	माध्यंदिन	साय	(छा ३ १६)
पुल्लिग	स्त्रीलिंग	नपुसक	(कौषीतकि १. ७)
प्रत्यक्ष	अनुमान	शब्द	(योगसूत्र)
प्राण (वायु)	अपान	व्यान	(तै १ ५ ३)
तमस्	रजस	सत्त्व	(गी १७)
अन्नमय+प्राण-मय (कोश)	मनोमय + विज्ञानमय	आनन्दमय	(तै. ३ १०. ५)

स्थूल (देह)	सूक्ष्म	कारण	(माण्डूक्य)
वैश्वानर	तैजस	प्राज्ञ	(माण्डूक्य)
आसन	प्राणायाम	प्रत्याहार	(योगसूत्र)
श्रोत्रियत्व	अ-कामहतत्व	अ-वृजिनत्व	(वृ. ४. ३. ३३)
ब्रह्मचर्य	गार्हस्थ्य	वानप्रस्थ	(छां. २. २३)
वाह्य	मध्यम	अभ्यंतर	(प्रश्न ५. ६)
क्या ?	कितना ?	कैसा ?	(कठ १. १५)
कृष्ण	लोहित	शुक्ल	(श्वे ४. ५)
अण्डज	जीवज	उद्भिज्ज	(छां. ६. ३. १)
अन्न	अप्	तेजस्	(छां. ६. २)
मनुष्य	पितर	देव	(वृ. १. ५. ६)
माता	पिता	प्रजा	(वृ १. ५. ७)
विज्ञात	विजिज्ञास्य	अविज्ञात	(वृ. १. ५. ८)
भूत	भवत्	भविष्यत्	(माण्डूक्य)
पुत्रैषणा-त्याग	वित्तैषणा-त्याग	लोकैषणा-त्याग	(वृ. ३. ५. १)
यज्ञ	दान	तपस	(गी. १७)
माता की शिक्षा	पिता की शिक्षा	गुरू की शिक्षा	(वृ ४. १. २)
त्वम्	असि	तत्	(छा. ६)
क्रिया	इच्छा	ज्ञान	(योग-चूडा. ८६)
परा	पश्यन्ती	मध्यमा	(ऋ. १. १६४. ४५)
शान्ति (साधन)	शान्ति (स्वरूप)	शान्ति (साध्य)	

सूचना :

१. यह तालिका दिग्दर्शनार्थ समझी जाय, संपूर्ण नहीं।

२. आधी मात्रा के भिन्न-भिन्न अर्थ गुप्त रखे गये है। पाठक ढूंढ निकालें।

३. अकारादिको के पर्याय परस्पर पर्याय नही होते।

४. इस अर्थ के वारे में आग्रह रखना सभव नहीं। जैसे, यजुर्वेद का सवंध स्वर्ग से (यानी 'म'कार से), और सामवेद का अन्तरिक्ष से (यानी ('उ'कार से) ऐसी उलट-पुलट व्यवस्था भी मिलती है। (तै. १. ५. २) वैसे ही 'उ'कार यानी 'प्राण' और 'म'कार यानी 'मन' ऐसा अर्थ भी करते है।

: ४ :

परमार्थ की प्रस्थान-त्रयी

१

ॐकार की तीन मात्राओं को ध्यान में रखकर सारी सृष्टि के और शब्द-तत्त्वों के तीन-तीन विभाग करने की जो पद्धति उपनिषदों में ग्रहण की गई है, वह अध्यात्म-शास्त्र पर भी लागू होती है। समग्र परमार्थ के (१) सिद्धान्त (२) साधना, और (३) पूर्व तैयारी, यही तीन विभाग होते हैं। इन्हीं को, गीता की भाषा में, साख्य, ध्यान और कर्म की विशिष्ट सज्ञाएँ हैं। कभी-कभी साधना और पूर्व-तैयारी, ये दो अलग-अलग विभाग न मानकर, दोनों को एक ही साधना के अन्तर्बाह्य दो पहलू समझकर दोनों का समावेश व्यापक सज्ञा 'योग' में किया जाता है। ऐसा करने पर सम्पूर्ण परमार्थ के सिद्धान्त और (अतरग-बहिरग) साधना अथवा 'साख्य' और 'योग' सिर्फ यही दो विभाग होते हैं। और आखिर में, साधक की दृष्टि में चूंकि सिद्धान्त का उपयोग सिर्फ साधना को दिशा दिखलाना ही है, इसलिए इन दोनों विभागों का योग भी व्यापक सज्ञा में सग्रहीत होकर एक ही योग के साख्य-योग, ध्यान-योग और कर्म-योग—ये तीन प्रकार होते हैं। योग को यदि हम परमार्थ का आत्मा मानें तो इस आत्मा के तीन अग साख्य-योग मन, ध्यान-योग प्राण, और कर्म-योग वाणी इस प्रकार कल्पित किये जा सकेंगे।

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्म-योगेण चापरे ॥

"कोई ध्यान-मार्ग से, कोई साख्य-मार्ग से, कोई कर्म-मार्ग से आत्म-दर्शन करते है (गीता १३-२४)", इस वाक्य मे यद्यपि गीता ने मोक्ष के तीन 'स्वतत्र' मार्ग साख्य, ध्यान और कर्म दिखाये है, फिर भी दूसरी दृष्टि से इन तीनो को तीन स्वतत्र

जीने न कहकर, एक ही जीने की तीन सीढियाँ कहा जा सकता है। या फिर यह कहे कि किसी सपाक्रित जीने मे जैसे अनेक सयुक्त जीने रहते है, वैसे ही एक ही परमार्थ के मार्ग मे अपने आपमे स्वतत्र ये तीन अवान्तर मार्ग है। उपरोक्त गीता-वचन मे तीनो मार्गों से 'साधक आत्म-दर्शन करते है' यह भाव दिखलाने के लिए 'आत्मा के द्वारा आत्मा को आत्मा मे देखते है,' ऐसी चक्करदार भाषा प्रयुक्त की है। लेकिन इन तीनो मार्गों का मिलकर एक ही विशाल मार्ग बना है, यह कल्पना यदि करनी हो तो 'आत्मा के द्वारा देखना' यह कर्म-योग का तत्त्व,'आत्मा को देखना'यह साख्य-योग का तत्त्व, और 'आत्मा मे देखना' यह ध्यान-योग का तत्त्व, ऐसा पृथक्करण किया जा सकता है। और तीनो मार्गों के मिलने से, 'आत्मा से' आत्मा को, आत्मा मे' देखने की सम्पूर्ण क्रिया होती है, इस चक्करदार भाषा मे से एक जमा हुआ अर्थ निष्पन्न होगा।

उपनिषदो की ब्रह्म-विद्या का सारा अर्थ सकलित रूप से ॐकार मे एकत्रित है, इसलिए उसमे परमार्थ-वृक्ष की उपर्युक्त तीनो शाखाओ का बीज-रूप मे समावेश किया गया है। यह किस तरह से होता है ? यह समझने के लिए फिर एक बार 'ॐ-तत्-सत्' की शरण जाना होगा। 'ॐ-तत्-सत्' सकेत मे ॐकार के व्यक्त और अव्यक्त सृष्टि मे समाये हुए अर्थ प्रकट करने के लिए, सोचा जा सकता है कि 'सत्' और 'तत्' सज्ञाएँ रखी गई है। सत् शब्द के द्वारा तात्त्विक स्वरूप दर्शाया गया है। ॐकार का'सत्त्व'देखना हो तो ॐ-सत् की उपासना करनी चाहिए और ॐकार का तत्व देखना हो तो ॐ-तत् की उपासना करनी चाहिए। लेकिन पहले सत्त्व को अच्छी तरह देखे बिना तत्त्व को समझने की आशा नही की जा सकती। सत् ईश्वर का व्यक्त या सगुण रूप है और 'तत्' (यानी वह) अव्यक्त या निर्गुण रूप है। 'वह' यानी दृश्य सृष्टि के परे का, या जो 'यह' नही है वह—इस तरह का अर्थ है। 'नेति नेति' अभावात्मक आदेश का तत् भावात्मक रूपान्तर है। सृष्टि के

बाहर का परमेश्वर कैसा है यह समझने के पहले, सृष्टि के भीतर समाया हुआ परमेश्वर कैसा है, यह पहचानना आवश्यक है। 'सत्' शब्द चूकि 'तत्' की जोड मे बैठाया गया है, इसलिए उसका अर्थ एतत् (यानी 'यह')समझना चाहिए और तत्-सत् के बदले चूकि 'तत् एतत्' सज्ञा भी उपनिषदो ने ही प्रयुक्त की है, इसलिए अनुमान करने की भी आवश्यकता नही रहती।

'तदेतत्'— इति मन्यन्तेऽनिर्देश्य परम सुखम ।
कथ न 'तद्' विजानीया किमु भाति विभाति वा।

यह मत्र कठोपनिषद् (५-१४) मे आया है और उसके तदेतत् ब्रह्म-निर्देश की ओर ही भाष्यकारो का विशेष ध्यान गया हो, ऐसा प्रतीत नही होता है। "अनिर्देश्य (यानी अनिर्वचनीय) और परम (यानी श्रेष्ठ) सुख का अनुभव लेने के लिए ऋषि, तदेतत् (वह-यह) सज्ञा के द्वारा ईश्वर का चिन्तन करते है। इसमे एतत् या परम सुख क्या है, यह समझने पर भी तत् या अनिर्देश्य सुख का अर्थ क्या है, यह कैसे जाना जाय ? इस 'तत्' पर भीतर या बाहर से प्रकाश डालनेवाला क्या कोई साधन है ? इस तरह इस मत्र मे सवाल पूछा गया है। और अगले ही मत्र मे 'इस तरह के और कोई साधन मिलने वाले नही है, क्योकि यह अनिर्वचनीय 'तत्' प्रकाश की और प्रकाशको की भी मर्यादा के बाहर का है," ऐसा उत्तर भी दे दिया है। (कठ, ५-१५) परतु परमेश्वर का यह स्वरूप समझा फिर भी 'वह' स्वरूप कैसे समझ मे आयेगा, यह प्रश्न, अनुभव की दृष्टि से निरर्थक सिद्ध होगा, क्योकि 'एतत्' का अथवा 'सत्' का ज्ञान होने के बाद 'तत्' का दर्शन आप-से-आप हो जाता है, उसके लिए अलग साधन की जरूरत नही रहती। यह वस्तु-स्थिति है। यही बात उपनिषद् की अन्तिम वल्ली मे, किंचित् शब्द-भेद से, कही है—

अस्तीत्येवोपलब्धव्यस् तत्त्व-भावेन चोभयोः ।
अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्व-भाव प्रसीदति ॥

"परमेश्वर का 'अस्तित्व-भाव' से और 'तत्-त्व भाव से' ग्रहण करना चाहिए। परतु उसमे (पहले) ईश्वर का अस्तित्त्व-भाव ध्यान मे लेना चाहिए यानी (पीछे से) ईश्वर का तत्त्व-भाव आप-से-आप (चित्त मे) स्फुरित होगा। (कठ. ६-१३)" इस मत्र मे 'एतत्' अथवा 'सत्' के बदले 'अस्ति' शब्द का प्रयोग है। सत् अस् धातु का वर्तमानकालिक कृदन्त है, इसलिए उसका अक्षरश अर्थ 'जो है', या 'अस्तित्त्व-युक्त' होता है। यानी इस मत्र मे परमेश्वर के तात्त्विक स्वरूप (किवा 'वह'-पन) को समझने के लिए परमेश्वर के सात्त्विक स्वरूप (या 'है'-पन अथवा 'यह'-पन) को समझना ही साधन रखा गया है।

२

ॐ गूढ ध्वनि है, इसलिए उसका गुप्त अर्थ 'तत्'-कार के द्वारा सूचित किया जाता है वैसे ही वह सनातन 'हा' के रूप मे प्रसिद्ध है, इसलिए उसका प्रकट अर्थ 'सत्-कार' के द्वारा दिखाया जाता है। साख्य, ध्यान और कर्म यह परमार्थ की प्रस्थान-त्रयी—इस 'सत्'-कार मे गृहीत है और 'तत्'-कार के द्वारा परमार्थ की आधी मात्रा दरसाई गई है। 'सच्च त्यच्चाभवत् (तै २-६)' इस श्रुति मे एक ही परमेश्वर 'सत्' और 'त्यत्' (या प्रकट और गुप्त) ऐसे दो रूपो से सजा हुआ कहा गया है। उसमे का 'त्यत्' 'तत्' का ही परोक्ष रूप है। इस प्रकार ईश्वर के गुप्त और प्रकट दो रूप दिखलाने के बाद 'तत् सत्यमित्याचक्षते'—(इस द्वि-रूपधारी) ईश्वर का नाम सत्य भी है—वाक्य दिया हुआ है। इससे 'तत्' का 'त्यत्' परोक्ष रूप बनाने मे क्या हेतु होगा, इसका स्पष्टीकरण किया जा सकता है। परमेश्वर को 'स-त्य' सज्ञा दी है, इसलिए उसके दो अगो के लिए 'सत्' और 'त्यत्' अर्थवाली 'स' और 'त्य' साकेतिक सज्ञाएँ बनाई गई है। प्रकट अर्थ से ॐ-सत् और गुप्त अर्थ से ॐ-तत् (या त्यत्), यो ॐकार के दो अर्थ है। 'अध्ययन' के तीसरे अध्याय मे कर्मयोग की दृष्टि से ॐकार का मर्यादित अर्थ किया था।

परन्तु प्रस्तुत विवेचन मे सम्पूर्ण अध्यात्मविद्या की दृष्टि मे ॐकार का व्यापक अर्थ किया है। ॐकार का गुप्त अर्थ शब्दो के द्वारा नही खोला जा सकता और साधक की दृष्टि मे उसकी विशेष आवश्यकता भी नही है। 'सिर्फ कुछ-न-कुछ गूढ अर्थ है, और वह भी सभवत ऐसा होगा कि उसके मिलने पर हमारा निश्चय किया हुआ प्रकट अर्थ शायद व्यर्थ हो जायगा', इतनी जानकारी रहे तो काफी है। प्रकट अर्थ ही साधक के लिए उपयोगी है। लेकिन आग्रह की वृत्ति न रहे, इसलिए गुप्त अर्थ का अकुश हमारे पीछे है, बस हम इतना अनुसधान रखे तो हमारा काम बन जायगा। 'तत्'-कार के द्वारा यदि अध्यात्म-विद्या की आधी मात्रा सूचित होती होगी, तो शेष तीन मात्राओ का सग्रह 'सत्'-कार मे होना चाहिए। ये तीन मात्राए यानी स्वाभाविक ही, सास्य-योग, ध्यान-योग और कर्म-योग—एक 'सत्'-कार मे कैसी छिपकर बैठी है इसे समझने के लिए 'सत्'-कार के भिन्न-भिन्न अर्थो की जाच-पडताल करनी होगी। भगवद्गीता के (१७-२६) —

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत् प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सत्शब्द पार्थ युज्यते॥

इस श्लोक मे 'सत्' शब्द का अर्थ कहा गया है (१) सद्भाव, (२) साधु-भाव और (३) प्रशस्त-कर्म। सद्भाव यानी 'होना-पन' या वस्तु-स्थिति। 'सत्' का मूल अर्थ है 'होना', फिर वह 'अच्छा हो या न हो'। "जिस प्रकार सत्पुरुष के बाल बढते है, उसी प्रकार ब्रह्म मे से विश्व-विस्तार होता है (मुण्डक १-७)" इस वाक्य मे भाष्यकारो ने सत्-पुरुष, यानी 'जिन्दा या मौजूद पुरुष' यही सादा अर्थ लिया है। लम्बे 'तन्तुवाली भारतीय कपास से' उसका सम्बन्ध नही जोडा। सत् शब्द का यह मूल अर्थ ग्रहण कर 'सद्भाव' अन्तर्गत अध्यात्म-विद्या के वस्तु-वर्णनात्मक विभाग का समावेश किया जा सकेगा। ईश्वर का अस्तित्व और तदनुषग से निश्चित होनेवाले सारे सिद्धान्त इस

शीर्षक के नीचे आयगे। सद्भाव या अस्तित्त्व का सिद्धान्त निश्चित हो जाने पर उसके आधार से साधुत्व के नियम भी अपने-आप तय हो जाते है। या दूसरे शब्दो मे कहे तो 'क्या है' या मालूम होने पर क्या 'होना चाहिए' यह निश्चित किया जा सकता है। इसीलिए पाश्चात्य नीति-शास्त्र को सृष्टि-शास्त्र की उलझन मे पडकर विकास-वाद के अनुसार अपना आसन घुमाना पडता है। साधुत्व की अस्वाभाविक व्याख्या करना सभव नही, इसलिए 'स्व-भाव' (नेचर) की जॉच कर, उसके अनुरूप नीति-शास्त्र की रचना करना उचित ही है। लेकिन स्वभाव कैसा है या अस्तित्त्व का सिद्धान्त क्या है, इसकी जॉच करने के लिए नीति आधि-भौतिक (फिजिकल) सृष्टि-शास्त्र की शरण जाती है, और 'स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते'—'स्वभाव' निश्चित करने के लिए आध्यात्मिक (मेटाफिजिकल) सृष्टि-शास्त्र का आश्रय लेना चाहिए—यो गीता कहती है। इन दोनो मे यह महत्त्वपूर्ण अन्तर ह, लेकिन अन्तर महत्त्वपूर्ण हो तो भी सिद्धान्त और साधना या अस्तित्त्व और साधुत्व का अन्योन्य-सम्वन्ध उभय-पक्षो मे कायम ही रहता है, इसलिए सत्-शब्द का वाच्यार्थ 'सद्भाव' है और उसीमे से लक्षणा के द्वारा दूसरा अर्थ साधुभाव सिद्ध हुआ है। साधुत्व यानी अस्तित्त्व का भावनात्मक सृष्टि मे रूपान्तर है।

असन्नेव स भवति असद्-ब्रह्मेति वेद चेत् ।
अस्ति ब्रह्मेति चेद् वेद सन्तमेन ततो विदुः ॥

"सनातन अस्तित्त्व से इन्कार करनेवाले को 'नष्ट' समझा जाय और स्वीकार करनेवाले को 'सन्त' (तै २-६)", इस श्रुति का भी यही तात्पर्य है। 'सद्भाव' के अन्तर्गत अस्तित्त्व का सनातन नियम बतानेवाले 'साख्य' का समावेश होगा और 'साधु-भाव' के अन्तर्गत भावना की भूमिका पर उनका विनियोग करनेवाला 'ध्यान' आयगा। लेकिन जिस तर्क से 'है' मे से 'होना चाहिए' अर्थ निकलना है, उसी तर्क से 'होना चाहिए' मे से

'करना चहिए' अर्थ निकलना चाहिए। जैसे, सृष्टि मे नियमितता का गुण है यह बात सूर्यादि के उदाहरणो के आधार पर सद्भाव से मुझे जँचा दी गई, तब मुझमे भी यह गुण 'होना चाहिए', इस साधु-भावना से मैंने सूर्य का ध्यान करने का निश्चय किया। लेकिन मै यदि अपना सूर्य-वशित्व का राज-योग न छोडकर यह ध्यान करना चाहूगा तो वह नही हो सकेगा। मुझे अपने अव्यवस्थित कार्यक्रम मे भी फर्क 'करना' होगा। जनक के द्वारा निमन्त्रित ब्रह्म-परिषद् मे आर्त-भाग ऋषियो ने याज्ञवल्क्य से मरणोत्तर जीवन के बारे मे यह प्रश्न पूछा था कि 'मरने के बाद पिण्ड के सभी तत्त्व ब्रह्माण्ड के तत्त्वो मे मिल जाने पर आत्मा कहा रहता है?' उपनिषदो मे कहा गया है कि इसपर, 'न नौ एतत् सजने'—ऐसे गूढ विषय की चर्चा समुदाय मे करना ठीक नही—यह कहकर याज्ञवल्क्य आर्त-भागो को लेकर परिषद् के बाहर गये, और वहा आत्मा की आगे की गति के बारे मे बहुत-सी 'निजी' चर्चा की। 'निजी' चर्चा की बाते फोडना स्वाभाविक ही शिष्टाचार के विरुद्ध है। इस बात से पाठको के दिल न टूट जाय, इसलिए उपनिषदो के रिपोर्टरो ने सारी चर्चा का साराश एक शब्द 'कर्म' मे दिया है। 'तौ ह यदूचतु कर्म है व तद्चतु'—उन्होने जो भी चर्चा की वह कर्म के बारे मे थी—यो कहकर, आगे 'पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति, पाप पापेन'—मनुष्य पुण्य-कर्म से पुण्यवान और पाप-कर्म से पापी ठहराया जाता है—इस प्रकार श्रुति ने स्व-मुख से कर्म का महत्व गाया है। 'आत्मा को भावना के अनुसार गति मिलती है', यह सिद्धान्त गलत नही है। लेकिन चूकि भावना का कर्म से निकट सम्बन्ध है, इसलिए आत्मा को कर्मानुरूप गति मिलती है। यह भी कहना स्पष्ट ही है। इसलिए गीता ने 'सत्' शब्द का तीसरा अर्थ 'प्रशस्त कर्म' बतलाया है।

इस प्रकार सद्भाव, साधु-भाव और प्रशस्त-कर्म इन तीन शीर्षको के अन्तर्गत साख्य-योग, ध्यान-योग और कर्म-योग इन तीनो का अन्तर्भाव हो जाता है, इसलिए अध्यात्म-विद्या की तीन

मात्राएँ दिखाने का काम 'सत्' शब्द कर सकता है। और इन तीन मात्राओ के परे जो भी अर्थ शेष रहा हो वह 'तत्' शब्द मे आता है। निशाना मारना हो तो निशाने की दिशा निश्चित करनी चाहिए और बाण को आवश्यक गति मिलनी चाहिए। बाण को आवश्यक गति मिलने पर भी यदि दिशा चूक जाय तो काम नही बनेगा। उसी तरह दिशा सही हो, पर आवश्यक गति न मिलने पर भी काम नही बनेगा। परमार्थ के लक्ष्य को बाधने के लिए ध्यान-योग के बाण का उपयोग करना पडता है। लेकिन साख्य-योग से निशाने की दिशा मालूम होती है और कर्म-योग से बाण को गति मिलती है। इस प्रकार इन तीनो के तीन काम है। गेद झेलने का काम हाथ का होता है, लेकिन गेद पर ऑख की नजर रखनी चाहिए और पावो को जहा गेद गिरनेवाली है, उस जगह दौडकर जाना चाहिए। परमार्थ की गेद ध्यान के हाथो से झेलनी होती है, लेकिन कर्म-योग के पैरो से दौडना और साख्य-योग की ऑखो से देखना पडता है। लेख लिखना है तो ज्ञान तो होना ही चाहिए, लेकिन ज्ञान के साथ-साथ उसे व्यवस्थित रीति से जमाने के लिए तर्क चाहिए और प्रदर्शित करने के लिए भाषा चाहिए। परमार्थ का लेख लिखने मे ध्यान-योग की जानकारी, साख्य-योग का तर्क और कर्म-योग की भाषा, इन तीनो का त्रिवेणी-सगम होना चाहिए। सम्पूर्ण प्राणायाम मे भीतर की अशुद्ध हवा बाहर निकालने की रेचक-क्रिया, बाहर की विशुद्ध हवा भीतर लेने की पूरक-क्रिया और इस विशुद्ध हवा को फेफड़ो से सयोग करानेवाली कुम्भक-क्रिया, ये तीनो क्रियाएँ होती है। इस प्रक्रिया को स्वीकार कर लेने पर परमार्थ के प्राणायाम मे कर्म-योग को रेचक, सांख्य-योग को पूरक और ध्यान-योग को कुम्भक कहा जा सकेगा। जीवन की किसी भी सम्पूर्ण क्रिया मे साख्य, ध्यान और कर्म का योग स्पष्ट दिखाई देगा। इन तीनो मात्राओ को हस्तगत कर लेने पर प्रकट पुरुषार्थवाद की सीमा हो जाती है। इसके बाद आधी मात्रा का गुप्त 'योग' साधना

शेष रहता है। इस योग की सार्वभौम सत्ता द्वारा सांख्य, ध्यान और कर्म की स्वतन्त्रता मर्यादित है, इसलिए केवल इन तीनों के बल पर रुक जाना उचित नहीं होगा। नाव, बल्ली या पतवार तीनों ठीक हो, फिर भी यदि वायु की अनुकूलता का योग न सधे तो उससे फल-श्रुति के गडवडी में उलझ जाने की सभावना तो रहती ही है। इसलिए 'सत्' कार की तीनों मात्राओं के अच्छी तरह जुट जाने के बाद भी, जवतक 'तत्' कार की आधी मात्रा हाथ नहीं लगती, तबतक फल के बारे में अनासक्त वृत्ति रखना इष्ट है। इसलिए 'तत्'कार का सच्चा अर्थ जबतक मिल नहीं जाता तबतक साधक की दृष्टि में गीता ने 'तत्' यानी 'फलाशा-त्याग' का काम चलाने लायक अर्थ बताया है। (गीता १७-२५)

३

लेकिन—"कोई सांख्य-मार्ग से, कोई ध्यान-मार्ग से, कोई कर्म-मार्ग से आत्म-दर्शन करते हैं," इस भाषा से जान पड़ता है कि गीता को मोक्ष-प्राप्ति के तीन स्वतन्त्र मार्ग अभिप्रेत होंगे और ऊपर के विवेचन का रुख, यह दिखाने की ओर है कि सांख्य, ध्यान और कर्म, ये तीनों एक ही मार्ग के आवश्यक और अपरि-हार्य अंग हैं। तब यह प्रश्न उठता है कि उन्हें एकत्रित कैसे किया जाय ? इस प्रश्न को हल करना बहुत कठिन नहीं है। पहले तो यह बात ध्यान में लेनी होगी कि जिन्होंने एक ही परमार्थ-योग के सांख्य, ध्यान और कर्म ये तीन अंग माने हैं, उन्हें अपनी दृष्टि में इन तीन अंगों में कोई विशिष्ट पौर्वापर्य-क्रम अनिवार्य है, सो बात नहीं।

"पहले करना तुझे कर्म,
कर्म से ही उपासना।
उपासना से मिले ज्ञान,
ज्ञान पाना ही मोक्ष है।"

यह 'एक' क्रम सामाजिक मानस-शास्त्र के सामान्यत

अनुकूल है इसलिए शास्त्रकारो ने सुझाया है, और उसी दृष्टि से कर्म-योग को 'पूर्व-तैयारी' नाम दिया जाता है। लेकिन, इसका अर्थ यह नही कि यही एक क्रम शास्त्रकारो को मान्य है। अमुक क्रमसे जाना चाहिए, यह किसी विशिष्ट सम्प्रदाय का माप-दण्ड हो सकता है, लेकिन शास्त्रीय सिद्धान्त नही। 'मनुष्य का मन' इतना उलझन भरा विषय है कि उसके लिए अमुक ही नियम है, यह निश्चित करना कठिन है। कदाचित् मनुष्य का मन (उलझनभरा न हो) फिर भी मनुष्य के मन को सुल-झाना कठिन 'जान पडता' होगा। कुछ भी हो, मनुष्य के मन का स्वभाव नियमबद्ध नही है। यह मनुष्य की भाषा मे कहा जायगा। यानी स्पष्ट है कि ऐसे अनियमित मन का बन्दोबस्त करने के लिए कोई निश्चित कार्यक्रम उपयुक्त नही होगा। और गीता ने भी—

यतो यतो निश्चरति मनश् चंचलमस्थिरम् ।
ततस् ततो नियम्यैतद् आत्मन्येव वशं नयेत् ॥

"मन चचल और दौडता फिरता है, इसलिए जिस-जिस दिशा मे वह जाय, उस-उस ओर से उसे बाधकर, आखिर आत्मा मे स्थिर करना चाहिए (गी. ६-२६)"—इस प्रकार मनुष्य की विवेक-बुद्धि पर ही सारी जिम्मेदारी सौप दी है और 'चित्त-वृत्ति-निरोध' की प्रतिज्ञा से (यो. सू १-२) प्रवृत्त हुए योग-सूत्रो की भी यही दशा है। मन को जीतने के लिए कभी मन मे पैदा हुई छोटी-मोटी वासनाओ को तृप्त करना चाहिए, कभी ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि जिससे मन को शोक का स्पर्श ही न हो, कभी ब्रह्मनिष्ठो के चरित्र का चिन्तन करना चाहिए, कभी मन को जड-मूढ बनाने का प्रयत्न करना चाहिए, इत्यादि अनेक उपायो का (यो. सू. १-३६-३८) दिग्दर्शन योग-सूत्र मे किया गया है और इसमे शक नही कि साधक को उनसे बहुत मदद मिल सकती है। लेकिन आखिर मे 'यथा-

ऽभिमतध्यानाद्वा' या 'प्रसग देखकर कार्य करना' यही सिफारिश की गई है। इसीलिए पहले पूर्व-तैयारी का कर्म-योग फिर ध्यान की साधना (यानी उपासना या भक्ति) और आखिर मे साख्य-सिद्धात का ज्ञान, परमार्थ के लिए ऐसा क्रम-विविक्ष नही है। जिज्ञासु-वृत्ति का मनुष्य पहले सिद्धात हल करेगा, और फिर इन सिद्धातो को पचाने के लिए ध्यान-योग व कर्म-योग का अनुष्ठान करेगा। आर्त-वृत्ति का मनुष्य पहले साधना की ओर दौडेगा, और फिर उस साधना को टिकाये रखने के लिए साख्य-योग और कर्म-योग का आश्रय लेगा। अर्थार्थी-वृत्ति का मनुष्य पहले पूर्व-तैयारी के कर्म-योग का आचरण करेगा और फिर उस कर्म-योग को सजाने के लिए साख्य-योग और ध्यान-योग की मदद लेगा। इस प्रकार साख्य, ध्यान और कर्म, इनमे प्राथमिक भूमिका का चुनाव करने की दृष्टि से तीन मार्ग रहेगे। इसके अलावा अगली दो भूमिकाओ मे पौर्वापर्य से ये तीनो मार्ग द्विविध हो जायगे, यानी सब मिलकर छ प्रकार हो गये। लेकिन प्रकार कितने ही और कैसे ही हो, फिर भी इन तीनो भूमिकाओ का, सम्पूर्ण अनुभव के द्वारा योग किये बिना परमार्थ की सफलता नही होती, यह निश्चित जानिये। यह काम अनेक जन्मो का है। इन अनेक जन्मो की ओर ध्यान दे तो हमे साफ मालूम हो जायगा कि साख्य, ध्यान और कर्म, एक ही योग के तीन अग है। लेकिन सिर्फ मौजूदा जन्म तक ही यदि दृष्टि मर्यादित की जाय तो ये तीनो स्वतत्र मार्ग के रूप मे दिखाई देगे। सिद्धात और साधना का सबल साथ मे लेकर जन्मा हुआ कोई एक 'जनक' इस जन्म मे (अव-शिष्ट) कर्म-योग का अनुष्ठान कर कदाचित् कृतार्थ हो सकेगा, और तब इतिहास कहेगा कि 'कर्मणैव हि ससिद्धिमास्थिता जनकादय '—जनक-जैसो ने कर्म-योग से ही सिद्धि प्राप्त की और उसे देखकर कोई इस सिद्धात का भी प्रतिपादन करेगे कि 'कर्म-भिर्नि श्रेयसम्'—कर्म से ही मुक्ति प्राप्त होती है। यह सब

व्यावहारिक दृष्टि का कथन है। या, जैनियो की भाषा मे, यह व्यवहार-नय है। जिस वाक्य मे तत्त्व एक खास दृष्टि से बाधे जाते है उसे शास्त्रकार 'नय' कहते है। गीता ने जिन वाक्यो मे मुक्ति के तीन मार्ग बताये है, उनमे इह-जन्म-तक ही दृष्टि रखी है, इसलिए वे 'नय' वाक्य है।

इसके अलावा साख्य, ध्यान और कर्म को जीवन की किसी भी 'पूर्ण' क्रिया के तीन आवश्यक अग मान लेने पर, साख्य, ध्यान और कर्म 'अग' के 'पूर्ण' अग है। इसलिए प्रत्येक मे फिर साख्य, ध्यान और कर्म ऐसे तीन उप-विभाग बनेगे। प्रत्येक उप-विभाग के फिर वैसे ही तीन उप-उप-विभाग, प्रत्येक उप-उप-विभाग के भी। इस प्रकार के अनन्त 'उप' इस विचार-प्रणाली के पीछे लगनेवाले है, परन्तु शास्त्रकारो को सबकी अच्छी व्यवस्था करने का सामर्थ्य था। इसलिए उन्होने इसी विचार-प्रणाली को मान्यता दी है। जिसने आवर्त दशमलव के सवाल हल कर लिये होगे, उसके लिए अनन्त का भय मिट-सा जाता है, क्योकि वह जानता है कि कितनी ही अनन्त आवर्त सख्याओ का योग 'सान्त' बिलकुल ही कम आता है। जैसे, एक बटा दस + एक बटा सौ + इस आवर्त दशमलव का अनन्त तक जोड किया जाय तब भी सब मिलकर एक बटा नौ ही आता है। ध्यान-कर्म-साख्य इनमे से प्रत्येक की, अवातर ध्यान-कर्म-साख्य की अनन्त परम्परा मानकर चले हो, फिर भी जान पडता है कि शास्त्रकार इस अनन्त का भी अन्त जानते है, इसलिए उन्हे इस बात की कोई परवाह नही रही होगी। अत आवर्त-दशमलव के समान ही ध्यानादिको की 'आवर्त'-कल्पना उन्होने ग्रहण की है। जैसे, आचार्योपासना की गणना भक्ति या ध्यान के शीर्षक के अन्तर्गत भी लाये फिर भी गीता ने सम्पूर्ण 'आचार्योपासना' के (१) प्रणिपात, (२) परिप्रश्न और (३) सेवा, यो तीन अवान्तर विभाग किये है (गी. ४-३४)। इनमे से 'सेवा' मुख्यत. शारीरिक या कर्म द्वारा हो सकती है, इसलिए

इसे कर्म-योग मे गिना जा सकेगा । वैसे ही, 'प्रणिपात' या नमस्कार को भक्ति-युक्ति ध्यान का प्रतिनिधि माना जा सकता है । 'परिप्रश्न' मे चूकि बौद्धिक तर्क गृहीत है, इसलिए इसकी गणना 'साख्य' मे होगी । इस तरह से गीता ने एक ध्यान-योग मे ध्यान, कर्म और साख्य ऐसी तीन मात्राए बताई है । 'परिप्रश्न' के बाद गुरु-मुख से प्राप्त होनेवाली विद्या की गणना स्पष्ट ही ज्ञान-योग या साख्य की कतार मे होगी । लेकिन उपनिषद् ने उसकी भी (१) श्रोतव्य, (२) मन्तव्य, (३) निदिध्यासितव्य, ऐसी तीन मात्राए दिखाई है (वृ ४-५-६) इनमे भी श्रोतव्य कर्म-योग, मन्तव्य साख्य-योग और निदिध्यासितव्य ध्यान-योग कहलायेगा । इस त्रिविध प्रयत्न के द्वारा सम्पूर्ण द्रष्टव्य पल्ले आए, ऐसी उपनिपदो की योजना है। लेकिन इस द्रष्टव्य के या आत्म-दर्शन के भी (१) आत्मा के द्वारा, (२) आत्मा को, (३) आत्मा मे, देखना यो तीन प्रकार है और उनका स्पष्टीकरण मैंने गीता के आधार पर इस अध्याय के प्रारम्भ मे कर दिया है । मतलब यह कि ध्यान-कर्म-साख्य स्वभावत ही अन्योन्य-मिश्र है, इसलिए इन्हे एक-दूसरे से बिलकुल अलग नही किया जा सकता । ऐसी स्थिति मे ये तीनो स्वतत्र साधन है या नही, इस चर्चा मे विशेप अर्थ नही है । जिन्हे कर्म-योग के द्वारा मुक्ति पाना आता है, वे अपने कर्म-योग को ज्ञान-मूलक भक्ति-प्रधान विशेषण जोडना नही भूलते । लेकिन जैसे 'कर्म-योग' को हमेशा ही 'ज्ञान मूलक+भक्ति प्रधान' समझना चाहिए, वैसे ही 'ज्ञान योग को' 'भक्ति-प्रधान+कर्म-प्रेरक' और 'भक्ति-योग' को 'कर्म-प्रेरक+ज्ञान मूलक' समझना चाहिए, इस तरह का सकेत करने पर इन तीनो योगो मे शब्द-भेद के सिवा कोई विशेप महत्त्वपूर्ण भेद ही शेप नही रहता । इसलिए यदि कहा जाय कि ये तीनो स्वतत्र मार्ग है, तो उससे क्या बिगडनेवाला है ? उष्णता, गति और प्रकाश तीन स्वतत्र तत्त्व है, यह कहने मे किसी तरह की गलती नही है, लेकिन जब ये तीनो सूर्य की किरणो मे एकत्रित

होते है, तब इनका पृथक्करण करना अशक्य होता है। सूर्य-किरण की गति कहते ही उसमे प्रकाश या उष्णता की कल्पना आ जाती है। पानी की गति मे शायद उष्णता की कल्पना नही होगी, या बैल की गति मे प्रकाश की कल्पना नही होगी, लेकिन सूर्य-किरण की गति मे दोनो की कल्पना होती है। उसी प्रकार परमार्थ-योग की किरणो मे साख्य-योग का प्रकाश, ध्यान-योग की उष्णता और कर्म-योग की गति, ये तीनो स्वतत्र तत्त्व अपनी-अपनी स्वतत्रता भूलकर एकत्रित हो गये है। सितार के गान मे मिले हुए सप्त स्वर अपनी-अपनी स्वतत्रता बनाये रखते है। सारगी के गान मे मिले हुए सप्त-स्वर स्वतत्रता भूलकर एकात्म वने होते है। परमार्थ का गान सारगी के गान के समान है और उसमे मिले हुए सुर भी गान का विध्वस किये बिना अलग नही किये जा सकते। लेकिन यदि किसी सारगी वजानेवाले से जानकारी लेने के लिए खासतौर से कोई पूछे तो वह बता सकेगा कि सारगी से कौन-कौन से सुर किस-किस क्रम से निकले है? यानी सुर यद्यपि अपनी स्वतत्रता भूले हुए हो, फिर भी उसे खो नही वैठते। उसी प्रकार ॐकार चूकि स्वतत्र होकर भी स्वतत्रता की भूली हुई तीन मात्राओ से बना है, इसलिए अन्तिम निर्णय यही हो सकेगा कि यो कहे तो साख्य, ध्यान और कर्म स्वतत्र मार्ग है और तीनो का मिलकर एक ही मार्ग है। और गीता भी सदा तीन ही मार्ग दिखाती है,सो वात भी नही। कभी 'द्विविधा निष्ठा', कभी 'मामेक शरण व्रज' कभी 'चतुर्विधा भजन्ते मा' ऐसे अनेक नमूने गीता के पास हाजिर है। वेदो मे भी —

ज्येष्ठ आह चमसा द्वा करेति।
कनीयान् त्रीन् कृणवामेत्याह ॥
कनिष्ठ आह चतुरस् करेति।

"वडा (कारीगर) कहने लगा, (इस प्याले के) हम दो प्याले वनाये, मझला कहने लगा, तीन वनाये और छोटा कहने लगा कि चार वनाना ही ठीक है"—इन शब्दो मे उस अर्थ को

दर्शाया है, लेकिन कारीगर यद्यपि एक के दो, तीन या चार वना सकते है, पर यह नही भूलना चाहिए कि मूल चीज तो एक ही है।

४

तिपाई तीन पायो पर खडी होती है और फिर भी निरे तीन पायो को जैसे-तैसे खडा कर देने से वह खडी नही होगी। तीनो पायो की 'व्यवस्थित' रचना करनी पडती है, या त्रिभुज यद्यपि तीन रेखाओ से वनता है, लेकिन उनमे से कोई एक सुरेखा दूसरी दो सुरेखाओ को भारी न पडे, इस अन्दाज से मेल वैठाये वगैर त्रिकोण तैयार नही होता, उसी प्रकार आर्त के ध्यान-योग, जिज्ञासु के साख्य-योग और अर्थार्थी के कर्म-योग, इन तीनो मात्राओ का व्यवस्थित मेल करानेवाली आधी मात्रा जवतक अनुकूल नही होती, तवतक परमार्थ डगमगाता ही रहता है। लेकिन तीनो मात्राओ का अर्थ मिले विना आधी मात्रा नही मिलती, यह बात भी उतनी ही सही है। 'सत्' की उपासना करनेवाले सत्पुरुष और 'तत्' की उपासना करनेवाले 'तत्पुरुप' ऐसा कहे तो इसका अर्थ होगा सत्पुरुष ही—तत्पुरुष हो सकता है। आर्त-जिज्ञासु-अर्थार्थी ये सब सत्पुरुष है। लेकिन तत्पुरुष इनसे 'अलग' ही होने के कारण गीता और उपनिषद् मे उसे 'अन्य' या 'उत्तम' सज्ञाए दी गई है (कठ. २-८-९, गी १३-२५, १५-१७)। इस पुरुषोत्तम की या तत्पुरुष की हमे पहचान है—"तत्पुरुषाय विद्महे (नारा ५)"—यह भाषा सत्पुरुष ही बोल सकते है। इसलिए तत्पुरुप-भूमिका प्राप्त करने के लिए सत्पुरुप-भूमिका पर आरूढ होना ही वास्तविक उपाय है। सही है कि तिपाई के तीन पाये अव्यवस्थित वैठाये जाने पर तिपाई खडी नही रह सकती, लेकिन पहले यदि पाये ही तैयार न हो तो फिर निरे 'व्यवस्थितपन' का अर्थ ही क्या होगा ? "ध्यान-योग की नौका मजबूत बनाओ, कर्मयोग का डाँड जोर

से चलाते रहो, साख्य-योग की पतवार व्यवस्थित घुमाओ, फिर भी यदि ईश्वरीय कृपा की हवा अनुकूल न हुई तो सिद्धि की आशा व्यर्थ है।" "अहतेचा वारा न लागो राजसा। माझ्या विष्णुदासा भाविकासी"—अहन्ता की हवा भावुक को न लगे—यह भाषा इसी हेतु से प्रवृत्त हुई है। इसमे से इससे अधिक अर्थ निकालना युक्त न होगा। जितने दृष्टात है, वे सब एक-देशीय होने की स्थिति के कारण, अन-अभिप्रेत अर्थ भी उपर्युक्त भाषा मे आ घुसा है। परमार्थ यानी अनिश्चितता के समुद्र पर प्रवास करना नही है, लेकिन चूकि समुद्र के प्रवास का ही दृष्टात लिया गया है, इसलिए 'ईश्वरी कृपा की हवा पर' सारी बाते छोड दी गई है। वस्तुत नौका की मजबूती, डाड चलाने की 'ताकत' और पतवार घुमाने की 'व्यवस्था' का ठीक प्रमाण ही ईश्वरी कृपा कही जायगी और यही 'तत्'-कार का वास्तविक अर्थ है। 'तत्' चूकि आधी मात्रा है, इसलिए वह तीनो मात्राओ से स्वतत्र चौथी मात्रा नही है। यह आधी-मात्रा विशेषणात्मक है, तीन मात्राएँ उसके विशेष्य है। तिपाई के तीन पाये व्यवस्थित होने चाहिए, इस कथन मे तीन पाये तीन मात्राओ की जगह और 'व्यवस्थित' विशेषण आधी मात्रा की जगह पर है। 'व्यवस्थित' नाम से कोई चौथा पाया नही है। ईश्वरी-कृपा की 'हवा' की भाषा चकमा देनेवाली है। ईश्वरी-कृपा 'हवा' के समान स्थिर है और हम अपने प्रयत्नो के द्वारा जो हवा उत्पन्न करे बस वही 'हवा' है, कम-से-कम परमार्थ के आकाश की ऐसी ही स्थिति है। हवा स्थिर हो, फिर भी मनुष्य यदि दौडने लगे तो उसके आस-पास थोडी-सी हवा उत्पन्न हो जाती है। वैसे ही नौका जैसे-जैसे पानी काटती जाती है, वैसे-वैसे वह हवा को भी काटती जाती है, इसलिए उसकी गति से पानी के समान ही हवा मे भी तरगे उत्पन्न होती है। इसे चाहे तो हम अनुकूल हवा कह सकते है। इससे भिन्न अर्थवाली अनुकूल या प्रतिकूल हवा पारमार्थिक प्रवास मे उपलब्ध नही होती। 'समोऽहं सर्व-भूतेषु'

यहँ ईश्वरी कृपा का एकमात्र घोषणा-पत्र है । ईश्वरी कृपा मानो आत्म-प्रयत्न से कोई अलग ही वस्तु है, इस आविर्भाव की भाषा बोली जाती है, तब उसका ततु 'सग-स्मयाऽकरण पुनरनिष्ट-प्रसगात्", (यो. सू. ३-५१.)—छोटी-मोटी सिद्धि पर फूल न जाया करो, नही तो फिर चक्कर में आ जाओगे—ऐसा खतरे का घटा बजाना ही है । 'ईश्वर' यानी पूर्णता और ईश्वर की कृपा यानी पूर्णता की प्राप्ति। जवतक पूर्णता की प्राप्ति नही होती, या 'ईश्वर की कृपा' नही होती, तबतक छोटी-मोटी सिद्धि के भरोसे रहना प्रगति के पर तोडने के समान है। इसलिए आधी मात्रा की या पूर्णता की ओर ध्यान कम न हो, इस हेतु से तीन मात्राओ के प्रति असन्तोष पैदा करना गैरवाजिब नही कहा जायगा। इसलिए आधी मात्रा से लेकिन तीन मात्राओ का भी महत्त्व समझना जरूरी है। यही नही, वल्कि वैदिक ऋषियो ने आधी मात्रा मे ही तीन मात्राए वतलाई है। ऋग्वेद के सौर-सूक्त मे (ऋ. १—५०—१०)

उद् वय तमसस् परि। ज्योति· पश्यन्त उत्तरम्।
देव देवत्रा सूर्यं । अगन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥

यह एक महत्त्वपूर्ण मत्र आया है। वही मत्र 'ज्योति पश्यन्त उत्तरम्' के बदले 'स्व पश्यन्त उत्तरम्' फर्क के साथ यजुर्वेद में चार जगह आया है और उपनिषदो में (छा. ३—१७—७) इन दोनो प्रकार के चरण इकट्ठा कर पाँच चरणो का मत्र दिया है। इस मत्र मे 'उत्', 'उत्तर' और 'उत्तम' इस प्रकार पूर्णता की या आधी मात्रा की सीढियाँ बताई गई है। "अज्ञान के दूसरे किनारे पर दिव्य तेजवाले उष काल ('उत्')सूर्योदय ('उत्तर') और मध्याह्न ('उत्तम') इन तीनो के दर्शन हमे हुए," इस प्रकार कृत्यकृत्यता के उद्गार ऋषियो ने इस मत्र में व्यक्त किये है। सूर्य-प्रकाश के ऊपर रहने की सस्कृत मे 'उदय' अथवा 'उत्-अय' सज्ञा है, अत उष काल से मध्याह्न

तक के चढते हुए प्रकाश की 'उत्', 'उत्-तर' और 'उत्-तम,' ऐसी तीन अवस्थाए सहज ही होती है। गीता मे भी कहा गया है कि सत्पुरुष का 'आदित्य-वत् ज्ञान' दूसरे किनारे पर के 'तत्' को प्रकाशित करता है—'प्रकाशयति तत् परम्' और ऊपर के मत्र मे उसी 'तत् सवितुर्वरेण्य' या 'अज्ञान के दूसरे किनारे पर के दिव्य तेज' के तर-तम-भाव से तीन अनुभव प्रकट किये है। "तत् बुद्धयस्तदात्मानस् तन्निष्ठास्तत्परायणा" इस प्रकार से 'सत्'-पुरुष 'तत्'–पर होने पर उसे 'उत्'-पुरुष की सज्ञा प्राप्त होती है। यह तत्पुरुष की प्राथमिक भूमिका है। "तस्य उत् इति नाम (छा. १६–७.)" ऐसे इस उत्-पुरुष का स्पष्ट उल्लेख उपनिषदो मे है और उसीको गीता मे उदासीन कहा है। निर्गुण आधी-मात्रा का यह 'मूळारभ' है। उत्-पुरुष, उत्तर-पुरुष और उत्तम-पुरुष, ये तत्पुरुषो की तीन ऊपर चढती हुई कमानियाँ है। उत्तम-पुरुष 'आधी मात्रा' का अन्त 'माना गया' है। 'माना गया' कहने का कारण स्पष्ट ही है। जब एक बार तर-तम-भाव गृहीत किया जाता है तब यह नही कहा जा सकता कि इस तर-तम-भाव का अमुक जगह पर अन्त होता है। उत्तम के भी उत्तम, उत्तम-तर, उत्तमतम ऐसे असीम विभाग हो सकेगे और यदि अनन्त ब्रह्म इस श्रुति-वचन की ओर ध्यान दे तो उपनिषदो का आशय भी यही है, इसमे शका नही रहती। लेकिन सुविधा की दृष्टि से कही-न-कही विश्राम करना जरूरी है, इसलिए उत्तम पुरुष ही अन्तिम भूमिका निर्धारित की गई है। भगवान् बुद्ध ने धम्म-पद के 'अरहन्त-वग्ग' मे इस उत्तम पुरुष का वडा चमत्कारपूर्ण वर्णन किया है

अस्सद्धो अकतञ्ञू च सन्धिच्छेदो च यो नरो।
हतावकासो वन्तासो स वे उत्तम-पोरिसो ॥

—"श्रद्धा-हीन, अकृतज्ञ, कलहोत्पादक, अप्रासगिक और वमन-भक्षक को ही उत्तम-पुरुष या अर्हत् समझना चाहिए—यो नाथ

[illegible] की उलटी ही पहचान है। साराश मे, तीन मात्राओ के बाहर आधी मात्रा और आधी मात्रा के भीतर तीन मात्राए ऐसी व्यवस्था होने के कारण 'तीन मात्राए बनाम आधी-मात्रा' का विवाद अप्रस्तुत है। अविरोध किंवा शान्ति यही जीवन का एक-मात्र बीज मत्र है।

ॐ शान्ति शान्ति शान्ति

●